13_gyan_pande:Layout 1 5/13/2019 2:14 PM Page 196

राहुल सांकृत्यायन का भारतीय परिवार : पत्नी कमला, बेटा जेता और बेटी जया; (दायें) उनका रूसी परिवार : पत्नी लोला और बेटा ईगोर

हिंदुस्तानी आदमी घर में : तब— और अब?

ज्ञानेंद्र पाण्डे

आज़ादी की लड़ाई के दौरान अपने परिवार के बच्चों के साथ राजेंद्रबाबू

प्रेमचंद और शिवरानी देवी

बीसवीं सदी के पूर्वार्ध से ली गयी तीन आदमियों की जीवनियाँ और तीन तरह के लग्न— तीन तरह के वैवाहिक रिश्ते— इस लेख के केंद्र में हैं। प्रतीक के रूप में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की ज़िंदगी है जिसे एक बेहतरीन उदाहरण के तौर पर लिया जा सकता है। राहुलजी ने अपने जीवन में तीन शादियाँ कीं। पहली दो यानी गाँव में ग्यारह साल की उम्र में किया गया बाल-विवाह, और 45 साल की पकी उम्र में रूस में की गयी 'लव मैरिज'— परित्याग में ख़त्म हुई। राहुलजी के ही मुताबिक़ इसका कारण था देश और समाज के लिए ज़्यादा ज़रूरी राजनीतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक काम। उनकी तीसरी शादी से कहानी और भी उलझ जाती है। 56-57 साल की दीर्घायु में की गयी इस शादी को एक बुज़ुर्ग ज़रूरतमंद की शादी कहना मुनासिब होगा, हालाँकि इसमें भी आगे चल कर ख़ास तरह का लगाव और प्यार नज़र आता है।

राहुलजी का तजुरबा और उनके द्वारा अपनाया गया रास्ता बिल्कुल अनोखा हो, ऐसा भी नहीं है। मेरा तो अंदाज़ है कि कुछ इसी तरह के लग्न— बचपन की शादी, शौक़िया शादी और बुज़ुर्ग ज़रूरतमंद की शादी— या ऐसी शादियों की झलक, आम तौर पर बीसवीं सदी के हिंदुस्तानी आदमियों की ज़िंदगी में पाई जाती है। ऐसे आदमियों की ज़िंदगी में भी, जिनकी एक ही शादी हुई। और, ऐसी शादियों का दौर शायद आज भी ख़त्म नहीं हुआ है। उसी तरह जैसे 'प्रेम' और 'धर्म' (सेवा/त्याग) का टकराव पचास और साठ के दशक की फ़िल्मों से ले कर आज तक की फ़िल्मों में चला आ रहा है।

इस लेख में मैंने हिंदू घरों के उच्च-शिक्षित, शहरी, वकील-अध्यापक-लेखक-डॉक्टर जैसे मध्य-वर्गीय लोगों को केंद्र में रखा है। फिर भी मेरा विचार है कि यहाँ कही गयी बातें समाज के कुछ ज़्यादा विस्तृत क्षेत्र में— सम्भ्रांत और कम सम्भ्रांत घरों और परिवारों पर, मुसलमान और हिंदू, बड़ी और छोटी जातियों के लोगों पर भी-लागू हो सकती हैं। कारण यह कि आज की दुनिया में अपनी जगह बनाने के लिए इस नये मध्य-वर्ग (बाबुओं और अफ़सरों, वकीलों, डॉक्टरों, अध्यापकों, लेखकों, इंजीनियरों और आगे चलकर कम्पनी वालों) की ज़िंदगी, तौर-तरीक़े, उम्मीदें और तथाकथित तरक़्क़ी बाक़ी समाज के लिए भी अपने आप में उदाहरण तथा मार्गदर्शक बन चुकी हैं।

आधुनिक हिंदुस्तान में शादी और घर कैसा हो, एक आधुनिक दम्पति का रहन-सहन कैसा होना चाहिए? धर्मनिष्ठता, प्रेम और मित्रता, परम्परा और बदलाव, पति-पत्नी का सहवास, बुज़ुर्गों और बच्चों की परवरिश और सेवा, पढ़ना-लिखना, सोच-विचार और आपसी बातचीत, घर और बाहर के काम— इनकी जगह क्या होगी? इन प्रश्नों के कुशाग्र उत्तर हमारे घरों के अनदेखे (या बहुत कम देखे) इतिहास में पाए जाते हैं : बीसवीं सदी के शुरुआती और मध्यवर्ती दशकों में बिखरते-सिमटते-बदलते वैवाहिक जीवन, और उनसे जुड़ी वार्ता का इतिहास। अंग्रेज़ी राज के ख़िलाफ़ आंदोलन और नये राष्ट्र/नये समाज निर्माण की चेष्टा के दौरान इस क्षेत्र में जो दो ख़याल उभर कर मज़बूत हुए, वे आज तक चले आ रहे हैं : एक, परम्परा की हिफ़ाज़त, और दूसरा आधुनिक युग में बराबरी का स्थान बनाने की ज़रूरत। इस दुतरफ़ा खोज में, आदमी और औरत की अलग-अलग, और जहाँ-तहाँ मिली-जुली, भूमिका क्या होनी चाहिए, यही उस ज़माने का और इस लेख का मुख्य सवाल है।

1973 में स्त्री-पत्रिका *फ़ेमिना* ने एक सम्पादकीय लेख में लिखा था, 'हिंदुस्तान में पत्नी, माँ और व्यक्ति-विशेष के रूप में औरत होने के अनेक पहलू हैं। परम्परा और संस्कृति का गढ़ होना, इसके संलग्न, ऊर्जा, हिम्मत और शक्ति का ऐसा ज्वालामुखी जो एक पूरी पीढ़ी के आदर्श, अभिलाषाओं और सभ्यताओं को बदल सकता है।' लेख के साथ छपे आवरण चित्र में प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी को देवी (दुर्गा) के रूप में पेश किया था।[1]

---

[1] *फ़ेमिना,* खण्ड 14, अंक 17, 17 अगस्त, 1973, जेरल्डाइन फ़ोर्ब्स (1999) : 227.

आदमी तो तरह-तरह के होते हैं। वैसे भी मर्द-जाति का अधिक विश्लेषण करना एक तरह से उनकी भर्त्सना होगी। भारतीय नारी की बात और है। उसकी विरासत अनोखी है, उससे उम्मीदें अनंत हैं— ख़ासकर दो सौ साल के अंग्रेज़ी शासन और उससे भी लम्बे पश्चिमी देशों के साम्राज्यवादी आक्रमण के बाद। इसी संदर्भ में हिंदुस्तानी औरत को देवी/माँ/पत्नी/पूर्णत: स्वायत्त नागरिक, भभकती हुई ऊर्जा और संस्कृति के स्रोत के रूप में देखने का आग्रह उभरा। कहाँ तक यह तस्वीर पुरुषों (और उनके समकक्ष स्त्रियों) की बनाई हुई है, और कहाँ तक हमारे घर-समाज की परिस्थितियों और परेशानियों के अनुरूप है— यह जाँचना होगा। कहाँ इस छवि पर खरी उतरने की यह माँग, आम औरत की बात तो छोड़िए, विशिष्ट पढ़ी-लिखी, सम्भ्रांत, मध्यवर्गीय स्त्रियों के लिए, या फिर एक प्रधानमंत्री के लिए भी वाजिब है? इस पर सोचने की ज़रूरत है। अस्तु ...

बाल विवाह

तीन जाने-माने महानुभावों के बाल-विवाहों को लेकर बात शुरू करते हैं। तीनों ने हिंदुस्तान के पुनर्जागरण और उसे स्वाधीन, स्वावलम्बी और प्रगतिशील बनाने के संघर्ष में अपना जीवन व्यतीत किया। धनपत राय उर्फ़ मुंशी प्रेमचंद (1880-1936) को बीसवीं सदी के पूर्वार्ध का सबसे महान हिंदी-उर्दू लेखक माना गया। उन्हें 'स्वतंत्रता संग्राम के कहानीकार' की पदवी मिली। बाबू राजेंद्र प्रसाद (1884-1963) पश्चिमी बिहार के मशहूर गाँधी-भक्त, वकील और कांग्रेसी नेता थे। वे आगे चलकर संविधान सभा के अध्यक्ष और फिर स्वतंत्र हिंदुस्तान के पहले राष्ट्रपति बने। केदारनाथ पाण्डे उर्फ़ महापण्डित राहुल सांकृत्यायन (1893-1963) का ज़िक्र हो ही चुका है। उन्होंने अपने जीवन काल में पाँच भाषाओं में 125 किताबें प्रकाशित कीं : लगभग 50,000 पृष्ठ। इस अध्ययन, भाषा-ज्ञान, लेखन-कार्य और बृहत राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में लगातार योगदान के उपलक्ष्य में उन्होंने देश-विदेश में कमाल की ख्याति हासिल की।

तीनों आदमी खाते-पीते, भद्र ज़मींदार-परिवारों में पैदा हुए— हालाँकि प्रेमचंद के घरवालों की ज़मींदारी छोटी थी और परिवार के लिए घर के आदमियों को नौकरी और ख़रीद-फ़रोख्त का काम भी करना पड़ता था। संयोग से ये तीनों पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के लगे हुए तीन ज़िलों से आते हैं। इस इलाक़े की अनेक ख़ूबियाँ और ख़ामियाँ इन महापुरुषों के इतिहास में निहित हैं। पर मेरा ख़याल है कि कुछ इसी क़िस्म की ख़ूबियाँ और ख़ामियाँ शायद देश के अन्य भागों में भी पाई जाती होंगी।

तीनों की पहली शादी कम उम्र में हुई। राजेंद्र और राहुल ग्यारह या बारह साल के थे, प्रेमचंद 15 साल के। इसके बाद का तजुरबा अलग-अलग है। (और इसके बाद, पाठकों से क्षमा माँगते हुए मैं सामाजिक रीति के ख़िलाफ़ इन बुज़ुर्गों को पहले नाम या कुल नाम से सम्बोधित करूँगा। लगातार 'राजेंद्र बाबू' या 'राहुलजी' कहना लेख की लम्बाई बढ़ा देगा— और शायद ज़रूरी भी नहीं है। प्रेमचंद के बेटों और पोते-पोतियों ने तो उनकी चर्चा घर में 'प्रेमचंद' कह कर ही की है।)

राहुल सांकृत्यायन शायद तीनों में सबसे 'उपद्रवी' थे। अपनी आत्मकथा में वह समाज को इस तरह के बाल-विवाह को स्वीकार करने, बल्कि बढ़ावा देने के लिए, कोसते हैं। वे लिखते हैं कि बचपन से शुरू हुई मानसिक और आध्यात्मिक उथल-पुथल के कारण उन्होंने इस नाम की शादी को कुछ ही समय में त्याग दिया। राजेंद्र प्रसाद ने आज्ञाकारी पुत्र और परम्परावादी प्रवृत्ति के होने के नाते परिवार और समाज की माँग स्वीकार की। वे ज़िंदगी भर अपनी बीवी राजवंशी देवी के साथ रहे— हालाँकि इस 'साथ' के क्या मायने थे, यह हम आगे देखेंगे। प्रेमचंद अपनी पहली पत्नी के साथ क़रीब दस साल रहे। (पहली पत्नी का नाम, न प्रेमचंद के, न किसी और के, लेखों में कहीं मिलता है।) इसके बाद पहली पत्नी को छोड़ने पर उन्होंने दूसरी शादी शिवरानी देवी के साथ की जो ख़ुद बाल-विधवा थीं।
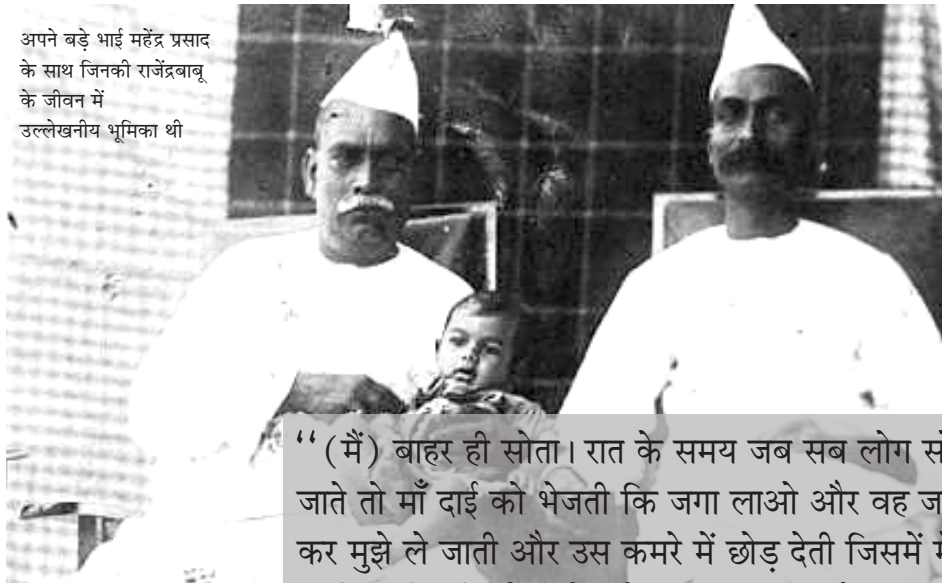
अपने बड़े भाई महेंद्र प्रसाद के साथ जिनकी राजेंद्रबाबू के जीवन में उल्लेखनीय भूमिका थी

''(मैं) बाहर ही सोता। रात के समय जब सब लोग सो जाते तो माँ दाई को भेजती कि जगा लाओ और वह जगा कर मुझे ले जाती और उस कमरे में छोड़ देती जिसमें मेरी पत्नी रहतीं। नींद के मारे मुझे उस वक़्त रात को जागना कठिन हो जाता। अक्सर मैं, कितनी भी कोशिश होती, जागता ही नहीं। दूसरे दिन माँ या चाची डाँटतीं कि रात को जागते नहीं और बुलाने पर भी आते नहीं। सवेरे जब सब लोग सोये ही रहते उठ कर चला आना होता और बाहर की चारपाई पर सो जाता जिसमें किसी को यह पता न चले कि रात को कहीं दूसरी जगह गया था!''

राजेंद्र और राहुल दोनों ने अपने बाल्यावस्था के विवाह को 'तमाशा' और 'खेल' कहा है। राजेंद्र बाबू की 660 पन्नों की आत्मकथा में चार पृष्ठ का 'विवाह' नामक अध्याय है। इसमें वे लिखते हैं :

> लड़कपन में मेरी बहन गुड़ियों के विवाह का खेल किया करती और उसमें मैं भी शरीक़ हुआ करता था। यह विवाह मेरे लिए कुछ वैसा ही था। मैंने न तो विवाह के महत्त्व को समझा और न यह महसूस किया कि मेरे ऊपर कोई ज़िम्मेदारी आयी। ... मुझे तो इतना भी ज्ञान नहीं हुआ कि क्या हुआ। हाँ, इतना समझ गया था कि मेरी भौजाई जिस तरह घर में आ गयी थीं, उसी तरह एक दिन कोई मेरी बहू भी आ जाएगी।[2]

उनकी बीवी, जो उनसे उम्र में कम थीं, शायद ही इससे अधिक कुछ जानती होंगी।

राहुल बाल-विवाह में निहित अत्याचार का ज़िक्र करते हैं। 'ग्यारह साल की अबोध-अवस्था में मेरी ज़िंदगी को बेचने का घरवालों को अधिकार नहीं (था)।'[3] वे बताते हैं कि क़रीब पंद्रह साल की उम्र से ही वे इस शादी के औचित्य पर सवाल उठाने लगे। कई बार घर से भागने की कोशिश की। कुछ हद तक बीस साल की उम्र (1913) में सफल हुए। कुछ ही साल बाद घरवालों ने उन्हें आर्य समाजी आश्रम से ढूँढ़ निकाला, जहाँ उन्होंने शरण ले रखी थी। तब उन्होंने प्रण किया कि वे अपने पारिवारिक ज़िले आज़मगढ़ में पचास साल की उम्र तक क़दम नहीं रखेंगे।

---

[2] राजेंद्र प्रसाद (1947).

[3] राहुल सांकृत्यायन (1994) : 94. अगला उद्धरण इसी पृष्ठ से है. राहुल की आत्मकथा के छह खण्डों को यहाँ *जीवन यात्रा* के नाम से उद्धृत किया गया है— I से VI तक.

> किसी बाक़ायदा तिलाक से मेरा यह तिलाक— जो वस्तुतः अस्वीकृत अबोध विवाह के लिए ज़रूरी भी न था-कहीं बढ़कर था, और मैंने उसी रूप में लिया था इसलिए मैं समझता हूँ, उक्त घटना-ब्याह-के लिए समाज की जगह मुझे ज़िम्मेदार ठहराना ग़लत होगा। मैंने उसे कभी ब्याह न समझा, न उसकी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर मानी।

इसके बावजूद आगे चलकर उन्होंने स्वीकार किया कि उनकी पहली पत्नी रामदुलारी देवी का जीवन उनकी (राहुल की) 'महत्त्वाकांक्षाओं का शिकार हुआ।' 1957 में जब वे अपने पितृ-ग्राम कनैला में थे राहुल रामदुलारी देवी से मिलने गये। उनकी उम्र उस समय 64 साल की थी। इस भेंट का बयान उन्हीं के शब्दों में :

> कनैला छोड़ने से पहले अपनी प्रथम परिणीता को देखने का निश्चय कर चुका था। अब वे चारपाई पकड़े थीं। देख कर करुणा उभर आना स्वाभाविक था। आख़िर मैं ही कारण था जो इस महिला का आधी शताब्दी का जीवन नीरस और दूभर हो गया। मैं प्रायश्चित्त करके भी उनको क्या लाभ पहुँचा सकता था? एक बार देखा। वे अपने आँसुओं को रोक नहीं सकीं। फिर मैं घर से बाहर चला आया।[4]

राजेंद्र ने अपना बाल-विवाह पूरी तरह स्वीकार किया। 45 साल बाद उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि वे दोनों (पति-पत्नी) कितना कम समय साथ बिता सके— इसकी वजह केवल उनकी राजनीतिक और सार्वजनिक व्यस्तता नहीं थी। और यह भी कि राजवंशी के लिए घर की ज़िंदगी काफ़ी कठोर थी, ख़ासकर शादी के शुरुआती दिनों में। अपने गाँव जीरादेई और ज़मींदारी में कायस्थ बिरादरी की पर्दा प्रथा का वे इस तरह बयान करते हैं :

> हमारे यहाँ पर्दा बहुत सख़्त होता है। मैंने देखा था कि जब मेरी भौजाई आयीं तो उनके साथ दो लौंडियाँ आयी थीं और वे केवल उन दोनों से ही बातें कर सकती थीं ! जीरादेई में एक कमरे में रहती थीं। ...
>
> ... मेरी भौजाई तो कमरे से बाहर निकलती ही न थीं। हाँ, नित्य-क्रिया के लिए जाने के समय पहले सब लोग हटा दिये जाते। लोगों में दूसरा कोई शामिल नहीं था— सिर्फ़ जीरादेई की लौंडियाँ थीं! मर्द सूरत तो कोई आँगन में रहता ही नहीं था। अगर कोई छोटा लड़का होता तो वह भी हटा दिया जाता। इतने से भी काफ़ी पर्दा नहीं होता और उनके नैहर की दाइयाँ कपड़े का पर्दा लगाकर उनको ले जातीं।[5]

शादी के बाद राजवंशी कुछ दिनों के लिए अपने मायके में ही रहीं। थोड़ी और सयानी उम्र तक रोक लेने का रिवाज़ कुछ (प्रगतिशील?) घरों में चल पड़ा था। एक वर्ष के बाद जब वे जीरादेई आयीं, तो वहाँ के बंधन उन पर भी लागू हुए। (इसका कुछ एहसास उन्हें अपने पैतृक घर की नयी-नवेली बहुओं और उम्र वाली औरतों के तजुरबे से हुआ ही होगा)। पर्दा के बारे में राजेंद्र प्रसाद लिखते हैं :

> यह बहुत दिनों तक चला और आहिस्ता-आहिस्ता कम हुआ। नैहर की लौंडियाँ चली गयीं। जीरादेई की एक लौंडी आने-जाने लगी। उससे कुछ-कुछ बातें करने की इजाज़त हुई। जब तक मेरी माँ जीती रहीं तब तक न तो मेरी भौजाई और न मेरी स्त्री ही कभी अपने कमरे से निकल आज़ादी के साथ आँगन में घूम-फिर सकीं या बैठ सकीं।

एक नतीजा यह हुआ कि उनकी पत्नी और भाभी दोनों गठिया की शिकार हो गयीं। इस बीमारी से उन्हें बहुत बाद में धीरे-धीरे छुटकारा मिला।

प्रेमचंद की ज़िंदगी बुज़ुर्गों द्वारा तय किये गये बाल-विवाह और उसके सम्भव परिणामों पर

---

[4] राहुल सांकृत्यायन (1957). 'जीवन यात्रा' के नामवर सिंह द्वारा लिखित परिचय में भी उद्धृत, *जीवन यात्रा*-I, 'केदार से राहुल' : 13.

[5] इसके लिए और अगले उद्धरण के लिए देखें, राजेंद्र प्रसाद, वही : 23-24. अनुवाद मेरा है. 1957 में एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई द्वारा प्रकाशित राजेंद्र प्रसाद की ऑटोबायोग्राफ़ी में अंग्रेज़ी में दिया गया विवरण थोड़ा सा कटा-छँटा है. घर के दायरे के भीतर स्त्री की भूमिका के बारे में विवरण बाद के अध्यायों में पहले से ही कम है, और अंग्रेज़ी की रचना में यह और भी घट गया है.

अधिक प्रकाश डालती हैं। राजेंद्र और मुमकिन है राहुल की ही तरह उन्हें भी बाल-विवाह के औचित्य, आवश्यकता और स्वाभाविकता की सीख मिली होगी। पंद्रह साल की उम्र में जब उनका लग्न तय हुआ, वे शादी के सुखभोग और साथ के सपने देख रहे थे। मगर, बहुत जल्दी उनकी और उनके पिता की उम्मीदें पानी में मिल गयीं। उन्होंने पाया कि बहू वर से उम्र में कुछ बड़ी थी, न ख़ूबसूरत (कहते हैं रंग साँवला था, मुँह पर चेचक के दाग़ थे, और वह थोड़ा लँगड़ाती थी) न बोलचाल में उतनी सौम्य और शांत जितना प्रेमचंद के घरवाले चाहते थे। शादी तय करने वाले मध्यस्थों ने इस बारे में नहीं बताया था।

शादी के बाद, दो साल के अंदर प्रेमचंद के पिता गुज़र गये। बीवी, सौतेली माँ, एक सौतेला भाई (बड़ा भाई एक-दो वर्ष पहले चल बसा था) और कई तरह के रिश्तेदारों को सँभालने का बोझ प्रेमचंद के कंधों पर आ बैठा। एक-दो छिटपुट ट्यूशन और अध्यापन के बाद 1900 में उनकी नियुक्ति सरकारी अध्यापन विभाग के अंतर्गत बहराइच और उसके बाद प्रतापगढ़ और अन्य ज़िलों के स्कूलों में हुई। प्रेमचंद इन जगहों में, जो बनारस से सटे उनके गाँव लमही से काफ़ी दूर थीं, बीवी को साथ नहीं ले गये। नतीजतन पत्नी काफ़ी समय अपने मायके में बिताती रहीं।

दोनों के बीच दम्पति के तौर पर रिश्ता शायद नाम-मात्र का था— मानसिक और शारीरिक दोनों ही तौर पर। प्रेमचंद ने अपनी दूसरी बीवी शिवरानी देवी को बाद में बताया कि वे तब भी निभा लेते, पर उनकी पहली बीवी और सौतेली माँ एक-दूसरे का मुँह तक नहीं देखना चाहती थीं। घर आये दिन रणक्षेत्र बना रहता था। आख़िरकार 1905 की गर्मियों की छुट्टी में जब प्रेमचंद घर पर ही थे, वह बवाल हुआ जिसमें उनकी पत्नी ने आत्महत्या करने की कोशिश की। इसके बाद उन्हें मायके भेज दिया गया। प्रेमचंद उनसे फिर कभी नहीं मिले। इस तरह लग्न के बीस साल बाद वह शादी पूरी तरह टूट गयी।

उस ज़माने में तलाक़ की ज़रूरत नहीं थी। क़ानून और समाज ने स्त्रियों के हक़ और हिफ़ाज़त की बात इस हद तक सोची न थी। एक साल के भीतर सौतेली माँ के प्रोत्साहन और अपनी ख़ुद की चाहत के फलस्वरूप प्रेमचंद ने दूसरी शादी कर ली। पत्नी 17 साल की शिवरानी थीं। 11 साल की उम्र में पहली शादी के कुछ महीने बाद वे विधवा हो गयी थीं। यह दूसरी शादी प्रेमचंद के आदर्शवाद के अनुकूल थी : इसके पहले से, और अपने जीवन के अंत तक, वे हिंदू समाज में बाल-विवाह और विधवाओं की दुर्दशा पर बराबर लिखते रहे।

■■■

प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन और राजेंद्र प्रसाद के निजी इतिहास को आगे बढ़ाने से पहले ऊपर दर्शाए गये वाक़यात पर एक टिप्पणी :

याद रहे कि बाल-विवाह की प्रथा और कुरीतियाँ सिर्फ़ पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के अभिजात ज़मींदार परिवारों में ही नहीं, बल्कि देश के अन्य भागों और समाजों में भी पाई जाती हैं। महात्मा (मोहनदास करमचंद) गाँधी (1869-1948) की जीवन-रेखा से बहुत लोग परिचित हैं। उनका विवाह 13 साल की उम्र में करा दिया गया। यही उम्र उनकी बीवी क़स्तूरबा की थी। इस सगाई और लग्न के पहले मोहनदास की दो और सगाई हुई थीं : दोनों लड़कियाँ शादी के पहले ही गुज़र गयीं। गाँधीजी का अंदाज़ था कि बा के साथ उनकी सगाई सात साल की उम्र में हुई। शादी उनसे एक-दो साल बड़े एक सगे और एक चचेरे भाई की शादियों के साथ कराई गयी। 'ऐसा करने में किसी ने हमारे कौशल या चाहत का ख़याल नहीं किया। सवाल सिर्फ़ (बड़ों की) सहूलियत और ख़र्चे का था,' गाँधी लिखते हैं। 'ऐसी वाहियात कम-उम्र की शादी के पक्ष में मैं कोई नैतिक कारण नहीं सोच सकता हूँ।'[6]

---

[6] एम.के. गाँधी (1927 / पुनर्मुद्रण 1966). हिंदी अनुवाद मेरा.

गाँधी का परिवार राजदरबार में कार्यरत एक सम्भ्रांत गुजराती बनिया परिवार था। इसके विपरीत अछूत समझे जाने वाले महाराष्ट्र की महार जाति का वृत्तांत देखिए। बेबी कोंडिबा काम्बले (1929–2012) अपने संस्मरण *जीण आम्च* में पश्चिमी महाराष्ट्र के गाँवों-क़स्बों में बसे महार परिवारों में लड़की/बहू के स्थान को दर्शाती हैं। बेबी काम्बले की अपनी शादी 13 साल की उम्र में हुई। उनके पिता और नाना के घरवाले उदार प्रवृत्ति के थे : लड़कियों को एक हद तक पढ़ाना, और उनकी शादियों में बहुत जल्दी न करना, लाभदायक समझते थे। पर आम तौर पर महार लड़कियों का ब्याह बहुत कम उम्र में हो जाता था। यह 1940 और 1950 के दशक की बात है। 'आठ या नौ और दस साल की कमसिन लड़कियों को बहू बनाकर घर लाया जाता था। उनसे भी छोटी लड़कियों की शादी कर दी जाती थी, बच्चियाँ जिन्हें अपनी शादी याद भी नहीं रहती थीं।' इन बच्चियों को पति के घर में फ़ौरन हर तरह के काम पर लगा दिया जाता था : आटा पीसना, रोटी बनाना, पानी भरना। पूरी नींद भी उनके लिए मुहाल थी। 'सुजातीय समाज ने हमको ग़ुलाम बना रखा था,' बेबी काम्बले लिखती हैं। 'तो हमने भी अपने गुलाम बनाने का इंतज़ाम किया— हमारी अपनी बहुएँ!'[7]

इसी तरह उर्दू की महान् लेखिका इस्मत चुग़ताई (1911–1991) मुसलमान समाज से जुड़ी अलीगढ़ की एक घटना बताती हैं, जो शायद 1910 या 1920 के दशक की है। एक दिन तीन लड़कियाँ अलीगढ़ स्टेशन पर उतर कर अलीगढ़ गर्ल्स स्कूल और कॉलेज की संस्थापक वहीद जहान बेगम (अला बी) के घर पहुँचीं। उम्र तक़रीबन 18, 14, और 4 साल की थी। तीनों ने शरण माँगी, और अला बी की शरण न पाने पर आत्महत्या करने की धमकी दी। उनकी हालत ही ऐसी थी। तीनों के माँ-बाप ज़िंदा थे। उन्होंने बड़ी लड़की की शादी एक बुज़ुर्ग ठेकेदार के साथ कर दी थी जिसकी पहले से ही दो बीवियाँ और अनेक बच्चे थे। उन सबने नयी बहू को नौकरानी की तरह रखा, और एक सौतेली बीवी के भाई ने उसे यौन संबंध के लिए छेड़ा, जिसके नतीजे में लड़की की ही बुरी तरह पिटाई हुई। वह उर्दू पढ़ती थी। अलीगढ़ गर्ल्स स्कूल के बारे में किसी पत्रिका में पढ़ा था। इसलिए यहाँ शरण माँगने भाग कर आयी थी। दूसरी बहन एक वृद्ध और बेहूदा आदमी के साथ ब्याही गयी थी, जो पेशे से नानबाई था, और लड़की के साथ बहुत बुरी तरह पेश आता था। जिन लड़कियों की इतनी दुर्गति हुई, उनके बारे में इस्मत लिखती हैं कि तीनों लड़कियाँ लायक़ और ख़ूबसूरत थीं।[8]

■■■

पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के अभिजात वर्ग की दुनिया में फिर चलें। प्रेमचंद, राजेंद्र और राहुल के लेखन से इन बाल-विवाहों और प्राय: उबाऊ शादियों के बारे में काफ़ी कुछ पता चलता है। इनमें दो आदमियों ने परित्याग के ज़रिये ऐसी शादी से छूट पाने की कोशिश की। इसके बारे में कम ही पता है कि इसी बोझिल ज़िंदगी के प्रति उनकी बीवियों की क्या प्रतिक्रिया थी। कोई ग़ज़ब नहीं यदि उनका दृष्टिकोण और उनके ख़याल आदमियों के दृष्टिकोण से भिन्न थे। इसी भिन्नता को केंद्र में रखते हुए मैं इस लेख को आगे बढ़ाना चाहता हूँ।

राष्ट्रपति राजेंद्र बाबू का बयान

सुजातीय ज़मींदार (और, आगे चलकर, मध्यवर्गीय) परिवारों में आदमियों और औरतों की स्थिति, और दृष्टिकोण में अंतर क्या था— यह राजेंद्र प्रसाद की 'सफल' शादी से पता चलता है। ऊपर दर्शाई गयी तीन शादियों में इसी के बारे में सबसे कम जानकारी मिलती है। राजवंशी के साथ राजेंद्र का ब्याह 1895 या 1896 में हुआ। उस समय वे ग्यारह या बारह साल के थे। फिर 1963 में मृत्यु तक वे उनके

---

[7] बेबी काम्बले (2008) : 87 और 94. हिंदी अनुवाद मेरा.

[8] इस्मत चुग़ताई (1998 / पेपरबैक पुनर्मुद्रण 2016) : 228.

राष्ट्रपति के रूप में बालिकाओं से राखी बँधवाते राजेंद्रबाबू

कलकत्ता और पटना में वकालत का काम शुरू करते समय राजेंद्र अकेले रहते थे : पत्नी और बेटा पटना में कुछ ही दिनों के लिए ही साथ रहे। उनके जैसे रूढ़िवादी समाज में जवान बीवियाँ और बच्चे पति के बुज़ुर्ग घरवालों के साथ ही रहते थे। जब वकालत और राजनीतिक काम ने और ज़ोर पकड़ा, तो राजेंद्र के लिए 'निजी मामलों' के लिए वक़्त और भी कम हो गया। वे गाँव पहले से भी कम जाते— कई मरतबा सिर्फ़ थकान या बीमारी से उबरने के लिए।

साथ रहे। पर 'साथ रहने' के अलग-अलग मायने हैं— यह राजेंद्र ख़ुद स्वीकार करते हैं।

1942 और 1944 के बीच आत्मकथा लिखते वक़्त वे ख़ुद कहते हैं कि उन 45-50 वर्षों में पति-पत्नी के रूप में शायद 45 महीने के लिए भी वे एक जगह नहीं रहे होंगे। शुरुआती वर्षों में राजेंद्र स्कूल और कॉलेज में पढ़ने पास के शहर छपरा में रहते थे। उसके बाद और भी दूर कलकत्ता, चले गये। वहाँ 1908 में एम.ए. और उसके बाद क़ानून में 'बैचलर' और 'मास्टर' की डिग्री हासिल की। शादी के बीस साल हो चुके थे, जब वे 1916 में पटना के नये हाई कोर्ट में वकील का काम करने बिहार लौटे।

1907 में राजेंद्र और राजवंशी का इकलौता बच्चा मृत्युंजय पैदा हुआ। पर उन दिनों में भी कलकत्ता जाने के पहले पति-पत्नी ज़्यादा समय साथ नहीं गुज़ारते थे। राजेंद्र लिखते हैं कि छपरा में स्कूल की छुट्टियों में जब भी वे घर आते थे :

> (मैं) बाहर ही सोता। रात के समय जब सब लोग सो जाते तो माँ दाई को भेजती कि जगा लाओ और वह जगा कर मुझे ले जाती और उस कमरे में छोड़ देती जिसमें मेरी पत्नी रहतीं। नींद के मारे मुझे उस वक़्त रात को जागना कठिन हो जाता। अक्सर मैं, कितनी भी कोशिश होती, जागता ही नहीं। दूसरे दिन माँ या चाची डाँटतीं कि रात को जागते नहीं और बुलाने पर भी आते नहीं। सवेरे जब सब लोग सोये ही रहते उठ कर चला आना होता और बाहर की चारपाई पर सो जाता जिसमें किसी को यह पता न चले कि रात को कहीं दूसरी जगह गया था![9]

---

[9] राजेंद्र प्रसाद, वही : 24. आगे, हिंदी की रचना से लिए गये उद्धरणों की पृष्ठ संख्या मूल पाठ में दी गयी है.

घर वाले और (मुमकिन है) स्वभावत: पति-पत्नी ख़ुद भी बच्चा चाहते थे। इसके आगे दम्पति के क्या-क्या ख़याल और ज़रूरतें थीं, इसकी किसी को परवाह नहीं थी। राजेंद्र इस मुसीबत की तरफ़ इशारा करते हैं। एक बार जब वे छुट्टियों में घर पर ही थे, राजवंशी हैजे की शिकार हुईं। घरेलू दवा-दारू से बच गयीं। पर इस बीच राजेंद्र का बुरा हाल हो गया था।

> किसी का अपनी स्त्री के संबंध में बहुत फ़िक्र रखना उन दिनों की प्रथा के अनुसार बदसलीक़ापन समझा जाता था। मैं चिंतित था। जानना और देखना भी चाहता था, पर किसी से न तो पूछ सकता था और न देखने की ख़्वाहिश ज़ाहिर कर सकता था। घर के लोगों का ध्यान शायद इस ओर गया ही नहीं कि मुझे भी उस बीमारी में दिलचस्पी है। (पृ. 33)

कलकत्ता और पटना में वकालत का काम शुरू करते समय राजेंद्र अकेले रहते थे : पत्नी और बेटा पटना में कुछ ही दिनों के लिए साथ रहे। उनके जैसे रूढ़िवादी समाज में जवान बीवियाँ और बच्चे पति के बुज़ुर्ग घरवालों के साथ ही रहते थे। जब वकालत और राजनीतिक काम ने और ज़ोर पकड़ा तो राजेंद्र के लिए 'निजी मामलों'[10] के लिए वक़्त और भी कम हो गया। वे गाँव पहले से भी कम जाते— कई मरतबा सिर्फ़ थकान या बीमारी से उबरने के लिए। और माँ के देहांत के बाद जब घर की औरतों पर पाबंदी कुछ कम हुई, तब भी उनकी बीवी, भाभी, विधवा बहन और परिवार की अन्य औरतें उनसे मिलने प्राय: तब ही आयीं जब वह अस्पताल अथवा राजनीतिक कार्य की वजह से जेल में होते।

औरतों की सैर या नयी जगहों को देखने की चाह त्यौहार और तीर्थ में शरीक़ होने से कुछ हद तक पूरी होती थी। राजेंद्र बताते हैं कि उनकी ताई, जो ताऊजी के मरने के बहुत बरस बाद तक जीवित रहीं, दादा से पाई गयी सारी आमदनी तीर्थ-यात्रा और व्रतों में ख़र्च करती थीं।

> वे प्राय: सभी तीर्थों में गयी थीं। इसमें उनका साथ देने वाली मेरी विधवा बहन थीं, जो विधवा होने के बाद से बराबर मेरे ही घर में रही हैं और अभी तक हैं। इन दोनों में तीर्थ-व्रत में मानो होड़ होती थी और शायद ही कोई स्नान या समैया होता हो जिसमें ये शरीक़ न होती हों। दोनों ने चारों धाम अर्थात् जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारका और बदरीनाथ के दर्शन किये। बहन तो बदरीनाथ दो-तीन बार गयी हैं। मेरी माँ घर पर ही रहतीं, कभी-कभी तीर्थ में जातीं। (पृ. 32-33)

बाद में जब घर की औरतें और वृद्ध हो चुकी थीं, और गाँधी राष्ट्र-नेता ही नहीं बल्कि असंख्य लोगों के मन में साधू-महात्मा बन गये थे, यदा-क़दा वे अहमदाबाद-स्थित साबरमती आश्रम और गाँधी से जुड़ी अन्य राष्ट्रीय योजनाओं और उत्सवों में भी जाने लगीं।

इस संदर्भ मे गाँधी की पत्नी, बा, के 'नारीत्व' और बड़प्पन पर राजेंद्र बाबू की व्याख्या उल्लेखनीय है। बा से उनकी पहली मुलाक़ात 1917 में हुई, जब वे गाँधी और उनके साथियों की चम्पारण सत्याग्रह में मदद करने के लिए आयीं। बा के पहुँचने पर गाँधी ने तय किया कि उनकी 14-15 लोगों की टोली की रसोई अब बा सँभालेंगी, न कि वह ब्राह्मण बावर्ची जो अब तक यह काम कर रहा था। जब राजेंद्र और औरों ने कहा कि ऐसा बोझ बा के कमज़ोर कंधों पर डालना ठीक नहीं है, तो गाँधी ने उन्हें आश्वासन दिया कि वे खाना बनाने की आदी हैं और सारा काम अच्छी तरह कर सकेंगी। राजेंद्र कभी नहीं भूले कि बा ने उन सब का किस तरह ध्यान रखा, किस ख़ूबी से देख-भाल की।

> उस समय जिस प्रेम से उन्होंने हमको पहले-पहल खिलाया था उसी प्रेम के साथ जब तक वह जीती रहीं और जब-जब हमसे भेंट हुई, उन्होंने खिलाया। .... वे हिंदू महिला की आदर्श मूर्ति, भारतीय संस्कृति की प्रतीक और प्रेम की पुतली थीं। वह सचमुच 'बा' (यानी, 'माँ') थीं और 'बा' बनी रहीं। एक बार गाँधीजी ने मुझसे कहा था— 'बा को बा कहने में मुझे भी बड़ा आनंद आता है।' पति-पत्नी का जो प्रचलित संबंध हुआ करता है वह तो दोनों ने स्वेच्छापूर्वक छोड़ दिया

[10] राजेंद्र प्रसाद (1957) : 23.

था। वह सचमुच उनकी भी 'बा' बन गयी थीं। (पृ. 614)

राहुल सांकृत्यायन : बुद्धिजीवी और घुमक्कड़

आम सुजातीय ज़मींदारी और मध्यवर्गीय परम्परावादी समाज में घर-परिवार की शादीशुदा औरतों का आचरण और स्थान क्या होना चाहिए— इस सोच की ध्वनि राजेंद्रबाबू के शब्दों में मिलती है। जहाँ तक घर-परिवार और आदमी-औरत के रहन-सहन और दायरे का सवाल है, राहुल सांकृत्यायन का जीवन-संग्राम राजेंद्र प्रसाद की ज़िंदगी से बिल्कुल भिन्न दिखता है। राहुल सांकृत्यायन जीवन में सेक्स (यौन संबंध), सुखभोग, आपसी मेल और साथ, और पति-पत्नी की अभिरुचि बनाए रखने और बढ़ाने के पक्षपाती थे। इसके बावजूद वे आदमी और औरत की अलग-अलग परिस्थितियाँ और परिणामत: उनकी अलग-अलग ज़रूरतों और अभिलाषाओं को पूरी तरह नहीं समझ पाए— या यह कहिए कि इन्हें समझने और इनसे पूरी तरह जूझने से इनकार करते रहे। इसी वजह से उनके वैवाहिक जीवन का इतिहास कई टेढ़े-मेढ़े रास्तों से गुज़रता हुआ बेहद पेचीदा बन जाता है।

बीस-बाईस साल की उम्र में उन्होंने अपने पैतृक घर और पहली शादी से संन्यास लिया। इसके पहले से ही वे किसी आध्यात्मिक और बौद्धिक आदर्श की खोज में निकल पड़े थे। बाक़ी ज़िंदगी वे इसी खोज और इससे जुड़े राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्य में जुटे रहे। आर्य समाज और राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़े। बौद्ध धर्म ग्रहण किया। कम्युनिस्ट बने और किसान संघर्ष में भाग लिया। बुद्धिजीवी और शोधकर्ता के रूप में पुराने ग्रंथों और स्रोतों की खोज में सारे हिंदुस्तान, श्रीलंका, नेपाल, तिब्बत और पूर्वी एवं मध्य-एशिया के कई भागों में भ्रमण करते रहे। काफ़ी दिनों तक उन्होंने श्रीलंका और रूस (उस ज़माने में सोवियत संघ) में अध्यापन कार्य किया। रूस के लेनिनग्राद शहर में ही उन्होंने दूसरी शादी की, और वहीं उनका पहला बच्चा हुआ।

अन्य प्रगतिशील युवकों और विचारकों की तरह राहुल भी 1917 की रूसी क्रांति के बाद से सोवियत संघ जाने का सपना देखते थे। अगस्त-सितम्बर, 1935 में उन्हें प्राचीन ग्रंथ और अवशेष देखने के लिए मध्य एशिया का दौरा करने का मौक़ा मिला। तब सोवियत संघ पहली बार गये। 1937-38 में प्राचीन भारतीय संस्कृति और बौद्ध धर्म के मशहूर विद्वान प्रोफ़ेसर थियोडोर ज़ेरवाट्सकी के निमंत्रण पर वे दो महीनों के लिए लेनिनग्राद के ओरियंटल इंस्टीट्यूट में पढ़ाने गये। यहीं उनकी मुलाक़ात रूसी युवती येलिना नार्वेर्तोवना कोज़ेरोव्स्काया से हुई जिन्हें वे बराबर 'लोला' के नाम से सम्बोधित करते हैं— जो शायद उनका उपनाम था। (मैं भी यहाँ यही नाम इस्तेमाल करूँगा जो राहुल की तरह उनकी तीसरी बीवी डॉक्टर कमला सांकृत्यायन ने भी अपनी लेखनी में इस्तेमाल किया है।)

येलिना (लोला) तिब्बती और मंगोली भाषा की विशेषज्ञ थीं; फ्रांसीसी, अंग्रेज़ी और कुछ संस्कृत भी जानती थीं। ओरियंटल इंस्टीट्यूट के हिंदुस्तानी-तिब्बती विभाग के शिक्षा सचिव और प्रोफ़ेसर ज़ेरवाट्सकी की वैज्ञानिकी सहायक के काम को सँभालने के साथ-साथ वह तिब्बती-संस्कृत शब्दकोश, मंगोली शब्दकोश, और तिब्बती भाषा का एक व्याकरण बनाने के प्रयोजन में लगी हुई थीं।[11] लोला और राहुल एक-दूसरे से रूसी और संस्कृत सीखने के लिए मिलने लगे। तीन हफ़्ते के अंदर 22 दिसम्बर, 1937 के दिन वे (राहुल के शब्दों में) 'एक दूसरे के हो गये'।[12]

महीने भर बाद 26 जनवरी, 1938 को राहुल लेनिनग्राद और सोवियत भूमि छोड़ चले। कुछ इस वजह से कि सोवियत सरकार ने उनके लम्बे अरसे तक पढ़ाने की इंस्टीट्यूट की माँग अभी तक मंजूर नहीं की थी, और इसलिए भी कि इस टाल-मटोल के कारण (और रूस में रहने के कारण भी) वह

---

[11] ईगोर राहुलोविच सांकृत्यायन (2001) : 297. आगे, उद्धरणों की पृष्ठ-संख्या मूल पाठ में दी गयी है.

[12] राहुल सांकृत्यायन, *जीवन यात्रा-II*, वही : 280. आगे, उद्धरणों की पृष्ठ-संख्या मूल पाठ में दी गयी है.

अपना बौद्धिक और राजनीतिक काम अच्छी तरह नहीं कर पा रहे थे। लोला आसानी से उनके साथ जा नहीं सकती थीं। मुमकिन है दोनों ने सोचा हो कि राहुल कुछ दिनों में वापस आ जाएँगे। फिर भी अलग होना अत्यंत दुख़द साबित हुआ, ख़ासकर लोला के लिए (आगे की बातों से इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट हो जाएगा)।

> मेरा हृदय उसके पास था। इस बात का अनुभव मैंने लेनिनग्राद में रहते जितना नहीं किया, उतना वहाँ से दूर हटते-हटते अनुभव करने लगा। ... बाहरी दुनिया और सोवियत संघ का जो संबंध है, उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि हम जल्दी और आसानी से मिल सकेंगे। लेकिन प्रेम इन बाधाओं की परवाह नहीं करता। आधी रात बीती गाड़ी का इंजन सन्न-सन्न करने लगा, हमारे हृदयों में काँटा-सा चुभने लगा; विदा होने का समय आया। आँखों में करुणा बरसाते लोला ने विदाई ली। गाड़ी रवाना हुई। देर तक वह प्लेटफ़ॉर्म पर खड़ी देखती रही। (II, पृ. 282)

मार्च, 1939 में जब राहुल बिहार के अमवारी किसान सत्याग्रह में भाग लेने के कारण जेल में थे, उन्हें ख़बर मिली कि सात महीने पहले 5 सितम्बर,1938 को, उनका एक बेटा पैदा हुआ है। लोला ने उसका नाम ईगोर राहुलोविच सांकृत्यायन रखा। (II, पृ. 316 और 330)

जेल में ही, अगले दो महीनों में राहुल ने एक रोमांचकारी प्रेम कहानी लिख डाली। कहानी लोला को समर्पित है : 'लोला के करों में प्रेमोपहार'। उपन्यास के मुख्य पात्र हैं— एक हिंदुस्तानी सैनिक देवराज सिंह जो प्रथम विश्व युद्ध में लड़ते हुए फ्रांस में घायल हुआ, और अंग्रेज़ युवती जेनी ब्राउन जो नर्स का काम करने आगे आयी है। वह लंदन के एक अस्पताल में देवराज की देख-रेख करते हुए अपना ख़ून भी देती है। दो आदर्शवादी जो रूस की क्रांति से अत्यंत प्रभावित हैं, प्रेम से घबड़ाते हुए भी प्रेम में फँस जाते हैं।

'प्रेम बड़ी भयंकर चीज़ है,' देवराज कहता है। 'मैं हमेशा इसे हलाहल समझता रहा। लेकिन तुम्हारे हाथों से जेनी, हलाहल भी अमृत सिद्ध होगा।' प्रेम और त्याग, प्रेम और राजनीतिक कर्तव्य के बीच का फ़ासला कैसे तय होता है? 'आदर्शों के लिए मरना और आदर्शों के लिए जीना यही हम दोनों के जीवन को एक सूत्र में बाँधेंगे।'[13] जब युद्ध ख़त्म होता है, और देवराज युरोप छोड़ने की बात करता है, जेनी अपने आँसू छिपाती है। दोनों मानते हैं कि भारत, जहाँ नयी राष्ट्रीय लहर उठी है, देवराज का कार्यक्षेत्र है। 'प्यारी जेनी, मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ, यह कहना उस प्यार का अपमान करना है; लेकिन, हमने प्रतिज्ञा की है कि हमारा प्रेम हमेशा हमारी आदर्शवादिता का दास बनकर रहेगा।' (पृ. 153)

दोनों अपने को विवाहित समझते हैं— चाहे बग़ैर कोर्ट-कचहरी के, वर्तमान समाज इस बात को न माने। देवराज के इंग्लैण्ड छोड़ने से पहले जेनी गर्भवती हो जाती है। वह देवराज के संग हिंदुस्तान जाकर राजनीतिक काम करने के सपने देखती है, पर उसके कार्यक्षेत्र में बाधा क़तई नहीं डालना चाहती। देवराज भी सोचता है कि जेनी के आने से काम में दिक़्क़तें होंगी। जब वह लंदन छोड़ता है, जेनी की आँखें आँसुओं से भरी हैं। स्टेशन पर खड़ी वह देखती रहती है, जब तक रेलगाड़ी कहीं दूरी में ओझल नहीं हो जाती।

उपन्यास में भी देवराज जेल में है जब उसे सात महीने पहले उनके बच्चे की पैदाइश की ख़बर मिलती है। लंदन से भेजे गये ख़त पर भेजने वाले का नाम और पता है : 'जेनी ब्राउन, एम.ए. (ऑक्सफ़र्ड), सम्पादिका, *श्रमिकों की आवाज़* (वर्कर्स वॉइस) (लंदन, 27 अप्रैल, 1922)'। आगे लिखा है : 'और डेवी, तुम हारे मैं जीती। पुत्री नहीं पुत्र। और चेहरा बिल्कुल तुम्हारे जैसा। आँखें तो बिल्कुल नक़ल की गयी सी हैं। ... साथ में छोटे डेवी की तस्वीर भेज रही हूँ। बाल भूरे हैं।' (पृ.188)

रूस छोड़ने के बाद राहुल ने सात साल राजनीतिक-सांस्कृतिक कार्य में, जेल में, शोध और लेखन कार्य में, और सोवियत संघ से वीज़ा और काम करने की इजाज़त के इंतज़ार में काटे। जून,

[13] राहुल सांकृत्यायन (1940) : 124-125. आगे, उद्धरणों की पृष्ठ-संख्या मूल पाठ में दी गयी है.

महाकवि निराला के साथ राहुल

> राहुल सांकृत्यायन जीवन में सेक्स (यौन संबंध), सुखभोग, आपसी मेल और साथ, और पति-पत्नी की अभिरुचि बनाए रखने और बढ़ाने के पक्षपाती थे। इसके बावजूद वे आदमी और औरत की अलग-अलग परिस्थितियाँ और परिणामत: उनकी अलग-अलग ज़रूरतों और अभिलाषाओं को पूरी तरह नहीं समझ पाए— या यह कहिए कि इन्हें समझने और इनसे पूरी तरह जूझने से इनकार करते रहे। इसी वजह से उनके वैवाहिक जीवन का इतिहास कई टेढ़े-मेढ़े रास्तों से गुज़रता हुआ बेहद पेचीदा हो जाता है।

1945 में वे दोबारा लेनिनग्राद पहुँचे। इस बार दो साल के लिए लोला और पुत्र ईगोर के साथ रहे, और ओरियंटल इंस्टीट्यूट में पढ़ाते रहे। जुलाई, 1947 में हिंदुस्तान में अपने राजनीतिक और साहित्यिक कार्य को आगे बढ़ाने के लिए लेनिनग्राद फिर छोड़ा।

1938 और 1945 के बीच लोला और राहुल एक-दूसरे को प्यार-भरी चिट्ठियाँ लिखते रहे, हालाँकि चिट्ठियाँ कभी-कभार ही पहुँचतीं और अकसर देरी से। 1945 में तेहरान पहुँचकर राहुल ने लोला को लिखा कि आख़िरकार उन्हें लेनिनग्राद लौटने की इजाज़त मिल गयी है। पहुँचने की निश्चित तारीख़ वे बता भी नहीं पाए थे जब जून 5, 1945 के दिन लेनिनग्राद पहुँचे। होटल पहुँचकर विश्वविद्यालय के रेक्टर (अध्यक्ष) को इत्तला की और रूसी पर्यटन विभाग (इन टूरिस्ट) के प्रतिनिधि के साथ लोला के घर के लिए निकल पड़े। मंगलवार का दिन, डर था लोला शायद घर पर नहीं होंगी : तिब्बती और मंगोली भाषा पढ़ाने के अलावा वह इस समय ओरियंटल इंस्टीट्यूट के पुस्तकालय की अध्यक्ष थीं। लोला घर पर नहीं थीं। ईगोर अन्य बच्चों के साथ बाग़ में खेल रहा था। पर इसे भय कहिए या घबराहट, उससे मिले बग़ैर राहुल होटल लौट पड़े। वहाँ लोला उनका इंतज़ार कर रही थीं। विश्वविद्यालय से उनके आने की ख़बर मिल गयी थी। फिर दोनों दोबारा लोला के घर के लिए निकले— इस बार ट्राम से, क्योंकि इन टूरिस्ट की गाड़ी अब तक जा चुकी थी!

राहुल, लोला और ईगोर अब साथ रहने लगे। पर सहजीवन जटिल साबित हुआ। 'लोला अब वही लोला नहीं थी, जिसे सात बरस पहिले हमने देखा था,' राहुल लिखते हैं। 'लेनिनग्राद के नौ सौ दिनों के घिरावे का प्रभाव पुराने परिचित प्राय: सभी चेहरों पर दिखाई पड़ता था। लोला बूढ़ी मालूम

होती थीं।' (III, 44) लोला अब 46 साल की थीं। विश्व-युद्ध के पूरे दौर में काम करती रहीं। 1943-44 में जब युनिवर्सिटी बंद हुई, तब शहर के सार्वजनिक पुस्तकालय में लग गयीं। साथ में एक सैनिक अस्पताल में नर्स का काम करती थीं। इस सेवा के लिए उन्हें 'लेनिनग्राद रक्षा पदक' और 'महान् देशभक्तिपूर्ण युद्ध 1941-45 में शौर्यपूर्ण श्रम' पदक इनाम में मिले।

1944 में लोला ने राहुल को एक ख़त लिखा था, पता नहीं यह राहुल को कभी मिला या नहीं। ख़त में लिखा : 'हमारे फ़्लैट में शून्य से नीचे दस डिग्री तापमान था, खाने को कुछ नहीं था। मैं भी किसी चमत्कारवश बच गयी और मेरी समझ में इसका कारण जीने की प्रबल इच्छा थी।'[14] स्थिति भयावह थी। लोग कौर-कौर को तरसते थे। राहुल ने ख़ुद सुना कि

> लोग जूतों के तल्लों को उबालकर खाते थे। सरेस भी नहीं बचता था। एक महिला ने कितने ही दिनों तक वार्निश उबाल कर खाया, जिसके कारण उसकी अंतड़ी हमेशा के लिए ख़राब हो गयी। लेनिनग्राद का कोई घर नहीं था, जिसके अनेक आदमी उस समय न मरे हों। लोला की बहन भूखों मर गयीं। उसका बहनोई भी भूखों मर गया। (III, पृ. 44)

खाने-पीने-रहने में सख़्त कठिनाइयाँ और अभाव युद्धविराम के बाद चलती रहीं, साथ में सरकारी दकियानूसी और अड़चनें भी। इन परिस्थितियों में भी 52 साल की उम्र के बुद्धिजीवी राहुल सात साल पहले के 'पुराने' राहुल बने रहे। घर के काम के आदी न थे, उससे भागते रहे। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय खुलने में अभी जून से सितम्बर के बीच तीन महीने बाक़ी थे। यह पूरा समय वे अपनी रूसी ज़बान सुधारने में और शोध कार्य और अध्यापन की तैयारी में बिताना चाहते थे।

आत्मकथा के 'नून-तेल-लकड़ी' नामक छोटे से अध्याय में वे लिखते हैं :

'देवता इसलिए मनुष्य से बड़े हैं, कि उनको नून-तेल-लकड़ी की चिंता नहीं है।' और आगे :

> हमारा तो यह सिद्धांत था— शारीरिक परिश्रम से घृणा करने की आवश्यकता नहीं, लेकिन उसमें इतना समय नहीं लगाना चाहिए कि लिखने-पढ़ने के समय में कोताही हो। मालकिन का विचार कुछ दूसरा ही था। हम बैठे-बैठे रात को 1-2 बजे तक पढ़ते और नोट लेते रहते, जिसे वह बेकार समझती। ... स्वाध्याय और घरू काम के सँभालने में विरोध है, इसका 24 जुलाई (1945) को पता लगा। बिजली की केतली में पानी गरम करने के लिए रखकर मैं लिखने-पढ़ने के लिए चला गया। दो घंटे बाद होश आया, तो देखा पानी सारा सूख गया है, बरतन का रांगा गल गया है, और तार भी जलने लगा है। केतली चौपट हुई, तीन सौ रूबल का चपत लगा। (III, पृ. 95 और 75)

(उस चपत का अंदाज़ा इस बात से लगता है कि उन दिनों राशन कार्ड पर एक आदमी ढाई रूबल में पूरा भोजन कर सकता था।) शीतकाल आया, तो लोला ने लकड़ी चीरने का काम अपने ऊपर लिया : राहुल को 'डर लगता था, कि कहीं कुल्हाड़ी पैर पर न चल जाए।' हाँ, बरतन धोने का काम राहुल ने सँभाला। लोला इसके लिए पानी गरम करके रखती थीं। तब भी राहुल नल के ठिठुरा देने वाले पानी से बरतन धोते, क्योंकि उनकी समझ में इससे काम जल्दी निपट जाता था। (III, पृ. 57)

घरेलू काम और बौद्धिक काम के अलावा कई और बातों में राहुल और लोला का अलग दृष्टिकोण था : क्लासिक संगीत और रंगमंच (जिनमें लोला की ख़ूब रुचि थी, उन्होंने प्रशिक्षण भी लिया था); विश्व और ख़ासकर भारत के राजनीतिक उथल-पुथल की ख़बरें (जिसके लिए राहुल तरसते थे); आदि-आदि।

> गला फाड़ना ही उच्च संगीत है, यह मानने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। संस्कृत में कहते हैं 'गद्यं कविनां निकषं वदंति', उसी तरह पश्चिम के लोग ओपेरा अर्थात् पद्यमय नाटक को नाट्य-कला की चरम सीमा बतलाते हैं। लेकिन उस्तादी संगीत की तरह ही ओपेरा को सुनते वक़्त भी मेरा कान पकने लगता था। (III, पृ. 76)

---

[14] ईगोर सांकृत्यायन, वही : 299. आगे, उद्धरणों की पृष्ठ-संख्या मूल पाठ में दी गयी है.
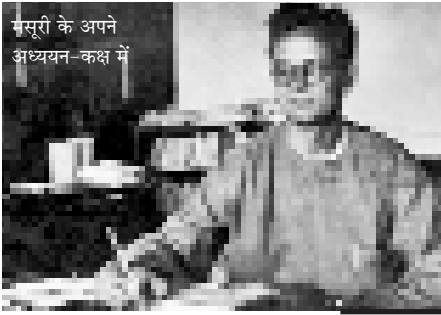
मसूरी के अपने अध्ययन-कक्ष में

राहुल का लेखन-कार्य ठप्प था। भारत से निकले अब ढाई वर्ष हो रहे थे। 'इन ढाई वर्षों में मेरा दिमाग़ ख़ाली बैठा नहीं था, कितनी ही पुस्तकों की कल्पना मन में तैयार हो रही थी, जिनको यहाँ रह कर काग़ज़ पर उतारना बेकार था, क्योंकि इसमें बहुत संदेह था कि सेंसरों की मार से बच कर वह प्रेस में पहुँचने में सफल होती।'

लेनिनग्राद पहुँचे तीन हफ़्ते नहीं हुए थे, और राहुल हिंदुस्तान और वहाँ की ख़बरों से बिछड़ जाने का रोना रो रहे थे। देश-निकाला होने का— और जहाँ 'सब कुछ' हो रहा था, वहाँ न होने का एहसास— आने वाले दिनों में बढ़ता रहा।

कुछ ही दिनों में उन्होंने मध्य-एशिया में शोध करने का आवेदन पत्र भरा। इस चक्कर में मार्च से मई 1946 के बीच एक महीने से ज़्यादा समय मास्को में गुज़ारा। (और इस बीच, मास्को का रंगमंच देखने और ओपेरा सुनने बराबर जाते रहे!) मध्य एशिया के सफ़र की सरकारी अनुमति न पाने पर हिंदुस्तान लौटने के सवाल ने और ज़ोर पकड़ा। इसके बावजूद लेनिनग्राद लौटने पर राहुल ने एक साल और रुकने का फ़ैसला किया। इस बीच वे मध्य-एशिया के इतिहास की सामग्री काफ़ी कुछ इकट्ठा कर सकते थे। साथ में एक 1600 रूबल के दाम पर नया रेडियो भी मिल गया था। (छह महीने पहले इसका दाम दुगुना था।) इस रेडियो पर वे दिल्ली, लंदन और कभी-कभी मद्रास के प्रसारण भी सुन पाते थे।

शोध और अध्यापन से जुड़ा काम चलता रहा। पर राहुल घर के माहौल से उकताते गये। लोला और ईगोर के आचरण की शिक़ायत बढ़ती गयी। लोला ने ईगोर को सिर चढ़ा रखा था। वह लाड़-प्यार का बिगड़ा था। जानता था कि उसकी माँ किसी बात से इनकार नहीं कर सकती। इसलिए मनमानी करता था। 'दो घंटा भी दिन चढ़ गया हो, ... ईगोर पड़ा सोता रहता।' (III, पृ. 78 और 90)

लोला की 'समय की लापरवाही' अलग खटकती थी। 'हरेक काम ठीक चलने के समय याद आता था।' जैसे 1946 की गर्मियों में पहाड़ पर जाते वक़्त ईगोर के लिए ओवरकोट सिलवाने की ज़रूरत। जाने से पहले 'पहली जुलाई को रात भर बैठ कर वह ओवरकोट सिलवाती रही।' इसी तरह, एक दिन पुरातन भारतीय संस्कृति के विद्वान और 1937 में राहुल के मेज़बान प्रोफ़ेसर ज़ेरवाट्स्की, जो गुज़र गये थे— उनके घर खाने का न्यौता था। संस्कृत के एक अध्यापक और उनकी पत्नी भी साथ जा रहे थे। '2 बजे ही चलने की बात थी लेकिन श्रीमती (लोला) की तैयारी में घर पर ही छह बज गये।' 'किसी भी काम को समय पर करना लोला ने नहीं सीखा था।' (III, पृ. 131, 125 और 105)

राहुल को अब अपने और लोला के बीच गहरा असामंजस्य नज़र आने लगा।

> कितनी ही बार हमारा मनमुटाव भी हो जाता था, यद्यपि झगड़ा करने का स्वभाव न मेरा था न उसका ही; इसलिए बात दूर तक नहीं बढ़ती थी। मुझे कविरत्न सत्यनारायण की पंक्तियाँ याद आती थीं, 'भयो क्यों अनचाहत को संग।' तो भी मैं उसका कृतज्ञ अवश्य था, क्योंकि कुछ स्वभाव सी बन गयीं, बातों को छोड़ देने पर उसमें गुण भी अनेक थे। ...

और आगे : 'मैं पुस्तकों का एकांत प्रेमी था और वह उसे उतनी आवश्यक बात नहीं समझती थी।' (III, पृ. 192)

सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि राहुल का लेखन-कार्य ठप्प था। भारत से निकले अब ढाई वर्ष हो रहे थे। 'इन ढाई वर्षों में मेरा दिमाग़ ख़ाली बैठा नहीं था, कितनी ही पुस्तकों की कल्पना मन में

तैयार हो रही थी, जिनको यहाँ रह कर काग़ज़ पर उतारना बेकार था, क्योंकि इसमें बहुत संदेह था कि सेंसरों की मार से बच कर वह प्रेस में पहुँचने में सफल होती।' (III, पृ. 182)

लेनिनग्राद में 25 महीने ऐसी ज़िंदगी के बाद फ़ैसला करना ही था।

> युनिवर्सिटी की ओर से 3-4 कमरों वाले अच्छे मकान की पूछताछ अब ज़्यादा गम्भीरता से होने लगी थी। हमारे सामने अब प्रश्न था— क्या यहाँ रहकर आराम का जीवन बिताएँ, या भारत लौट कर अपने साहित्यिक काम को जारी करें। पहला रास्ता मुझे जीवन-मृत्यु मालूम होता था। ऐसी आराम की ज़िंदगी ले कर क्या करना था, जब कि वास्तविक काम को मैं यहाँ रह कर ठीक तरह से कर नहीं सकता था।

जिस वक़्त राहुल लेनिनग्राद के बंदरगाह पर जहाज़ में चढ़े, 'मालूम हुआ, जैसे हृदय के ऊपर से भारी भार उतर गया।' (III, पृ. 182 और 193)

राहुल लिखते हैं कि विदा लेते समय, लोला 'निराश' और 'विकल' थी; नौ साल का ईगोर 'फूट-फूट कर रोने लगा।' राहुल दो साल में लेखन कार्य पूरा करने पर लौटने की बात करते थे, पर उन दोनों को यक़ीन नहीं होता था। ईगोर कहता रहा, 'तुम नहीं आओगे।' 'क्या जानें,' राहुल लिखते हैं, 'उसकी भविष्यवाणी ठीक निकले, यह ख़याल मेरे मन में भी आया, लेकिन जीवन-कर्तव्य किसी माया-मोह के फंदे को मानने के लिए तैयार नहीं था।' (III, पृ. 192)

इस तरह राहुल सांकृत्यायन की दूसरी शादी और उसमें निहित अनेक ख़ुशियाँ और परेशानियाँ ख़त्म हुईं। बीवी और बेटे को रूस में छोड़ कर वे भारतीय स्वतंत्रता दिवस के दो दिन बाद मुम्बई पहुँचे, देश और देशवासियों से जुड़े अपने सपनों को पूरा करने। बंदरगाह पर उनके स्वागत के लिए कई कामगार और साथी पहुँचे थे, लाल झण्डों और नारों को लिए। तब शुरू हुआ भाषण, लेखन, चिंतन, प्रोत्साहन और संगठन का नया दौर जो राहुल की बढ़ती उम्र और बिगड़ते स्वास्थ्य के बावजूद ज़िंदगी भर चलता रहा।

बुद्धिजीवी— वृद्धावस्था की ओर

तीन साल और कुछ महीने बाद, दिसम्बर 1950 में राहुल ने तीसरी बार शादी की। बीवी कमला परियार राहुल से 37 साल छोटी थीं। वे एक ग़रीब नेपाली, शायद दलित, परिवार की थीं जो उत्तर-पूर्वी भारत के कालिपोंग शहर में बस गया था। पिता गुज़र गये थे, माँ किराये पर ली गयी मशीन पर दर्ज़ी का काम करती थीं (उस समय तक जब कुछ ही दिनों बाद राहुल ने उन्हें एक सिलाई-मशीन ख़रीदकर न दी)। कमला के चार भाई-बहन थे। उनमें से सबसे बड़े भाई कुछ कमाते थे— पर परिवार की हालत तंग थी। कमला ख़ुद बहुत दुर्बल थीं। राहुल के मुताबिक़ उनका वजन सिर्फ़ 92 पाउंड था। 'वैसे बुद्धि बहुत अच्छी थी। स्वास्थ्य पर सबसे अधिक ध्यान रखने की ज़रूरत थी, किंतु उसकी तरफ़ से वह बेपरवाह थीं। स्वभावतः वे अस्वस्थ नहीं थीं। घर की भीषण ग़रीबी ने बेचारी को ऐसा बना दिया था।' (IV, पृ. 393)

कमला मैट्रिक पास थीं। हिंदी अच्छी थी, कुछ अंग्रेज़ी भी जानती थीं। राहुल के यहाँ जून 1949 में काम करने आयीं, तब देवनागरी में टाइपिंग भी सीख गयीं। राहुल से डिक्टेशन लेना और उनके लेखों को टाइप करना शुरू किया। कुछ ही दिनों में वे लेखन-कार्य के साथ-साथ उनके मधुमेह रोग (डायबिटीज़) की दवा-दारू भी सँभालने लगीं। तीन महीने बाद अगस्त 1949 में राहुल ने कमला का रहने का इंतज़ाम अपने घर में ही कर दिया, ताकि उन्हें इतनी दूर रोज़ पैदल न आना-जाना पड़े— वे भी कभी बरसात, कभी ठण्ड में। वह कमला की आगे पढ़ने की इच्छा को भी पूरा बढ़ावा देना चाहते थे।

> कमला अब बहुत नज़दीक आ गयी थीं। बतला चुका हूँ कि डायबिटीज़ में इंजेक्शन और लिखने के काम में सहायता की। इधर कितने ही समय से मुझे बड़ी चिंता थी, कोई स्थायी व्यवस्था करनी आवश्यक थी। यह कमला कर सकती थीं। फिर उनके स्वभाव को देखा। पढ़ने की लगन तथा तीव्र

लेनिनग्राद में राहुल

राहुल, लोला और ईगोर अब साथ रहने लगे। पर सहजीवन जटिल साबित हुआ। 'लोला अब वही लोला नहीं थी, जिसे सात बरस पहिले हमने देखा था,' राहुल लिखते हैं। 'लेनिनग्राद के नौ सौ दिनों के घिरावे का प्रभाव पुराने परिचित प्रायः सभी चेहरों पर दिखाई पड़ता था। लोला बूढ़ी मालूम होती थीं।' लोला अब 46 साल की थीं। विश्व-युद्ध के पूरे दौर में काम करती रहीं।
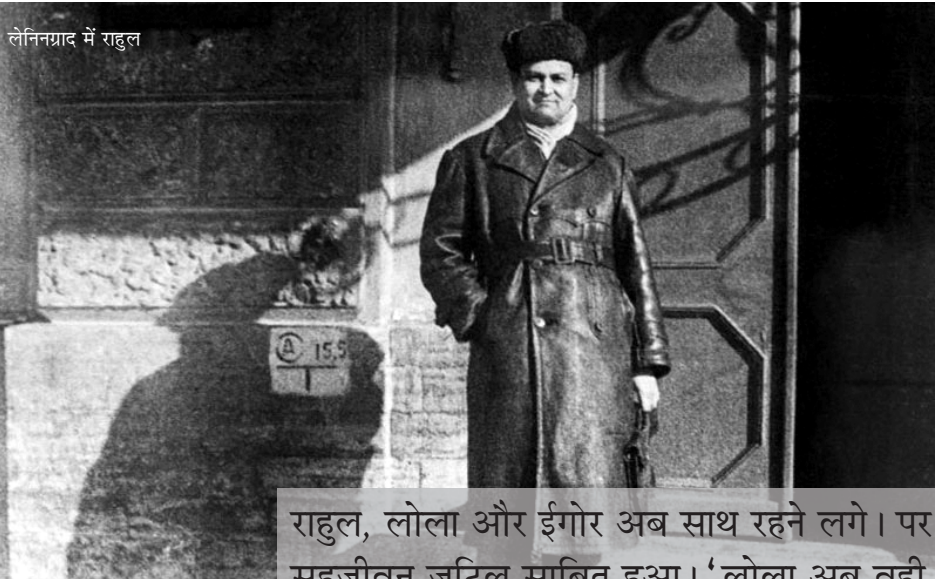
बुद्धि थी, इसलिए और घनिष्ठ होना स्वाभाविक था। (IV, पृ. 397-8)

कुछ ही दिनों में हम पाते हैं कि कमला राहुल के साथ जगह-जगह जा रही हैं। जनवरी, 1950, इलाहाबाद में जहाँ वे ठहरे थे,

> उसी बंगले में एक बंगाली डॉक्टर भी रहते थे। उन्होंने पेनिसिलीन का पहला इंजेक्शन दे दिया, बाक़ी तीन इंजेक्शन कमला रानी ने दिया। लिखने में सहायक और ऐसे समय में चिकित्सक बन कर वह मेरा बहुत काम कर सकती हैं, इस ख़याल ने मुझे उन्हें अपने साथ रखने के लिए मजबूर किया। (IV, पृ. 426)

दिसम्बर, 1950 में कमला और राहुल की शादी हुई। अंदरूनी विचार राहुल इस तरह बताते हैं :

> कमला को साथ रहते अब डेढ़ वर्ष हो गया था। उन्हें आगे पढ़ाने में पहला क़दम यही हुआ था कि इस साल वह विशारद में बैठने वाली थीं। उन्हें मेरे साथ और मुझे उनके साथ रहना था। इतने दिनों में एक-दूसरे की प्रकृति से काफ़ी परिचित हो चुके थे। स्त्री-पुरुष के ऐसे घनिष्ठ संबंध को अनिश्चित स्थिति में रखना ठीक नहीं था। पुरुषों के राज में स्त्रियों के लिए यह स्थिति और भी असह्य थी। इसलिए 18 दिसम्बर को हमने निश्चय किया कि दोनों पति-पत्नी बन जाएँ। (IV, पृ. 494)

झिझक थी तो दोनों की उम्र में फ़र्क़ को लेकर। तब भी,

> साहित्यिक काम और मेरे स्वास्थ्य के बारे में डेढ़ साल तक जो देखभाल कमला ने की थी, वह बड़ी ही श्लाघनीय थी। डायबिटीज़ का शिकार शरीर हो ही चुका था, इसलिए उसको ठीक से चलाने में भी कमला के हाथ की ज़रूरत थी। यदि मैं इसे न करता, तो वह हद दर्जे की स्वार्थपरता होती, और कमला के साथ भारी अन्याय भी। अगले दिन (24 दिसम्बर को) परीक्षा देने के लिए कमला को देहरादून जाना था, जिससे पहले इस काम को कर लेना था। (IV, पृ. 494)

आगे चलकर कमला और राहुल के दो बच्चे हुए। बेटी जया 1953 में, और बेटा जेता 1955 में। राहुल की बाक़ी ज़िंदगी में 1963 तक कमला, जया और जेता ने ही उन्हें सबसे ज़्यादा सहारा दिया।

इस बीच लोला और ईगोर का क्या हुआ? मार्च 1948 के बाद कुछ साढ़े पाँच साल की अवधि के लिए राहुल को उनकी कोई चिट्ठी नहीं मिली। कारण ठीक मालूम नहीं। शायद सोवियत सेंसर के दफ़्तर में इस दम्पति को लेकर कुछ शक़ था। एक रूसी महिला और एक विदेशी आदमी— जो कभी यहाँ, कभी वहाँ था। बौद्ध भिक्षु से कम्युनिस्ट बना था, फिर दिसम्बर 1947 में भारतीय राष्ट्रभाषा के मसले को लेकर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को त्याग दिया (1955 में राहुल पुनः पार्टी में शरीक़ हुए)। वजह जो भी हो, कई कोशिशों के बावजूद, 1948 और 1953 के बीच राहुल को लोला और ईगोर की ख़बरें नहीं मिलीं। उसके बाद, कुछ ख़त आने-जाने लगे।

इसी काल में कमला और राहुल की शादी हुई। आरम्भ में कमला को राहुल के रूसी परिवार का कोई ज्ञान नहीं था। उन्हें इसकी ख़बर सात महीने बाद मिली, वह भी राहुल से नहीं बल्कि अन्य सूत्र से। लोला और ईगोर के साथ चिट्ठियों के नये दौर से धक्का लगना ही था।

जनवरी, 1948 में राहुल को लोला और ईगोर की एक चिट्ठी मिली थी, जिसमें उन्होंने पैसों की तंगी का ज़िक्र किया था। इस पर राहुल के मन में यह प्रतिक्रिया उठी : 'लेकिन, यहाँ के पैसों का वहाँ मूल्य ही क्या था? बुलाने की तो बात भी नहीं कर सकता था, क्योंकि ईगोर के पढ़ने का जितना अच्छा प्रबंध वहाँ हो सकता था, जितनी आसानी से वहाँ काम मिल सकता था, उसका अभी यहाँ सपना भी नहीं देखा जा सकता था।' (IV, पृ. 257)

फ़रवरी-मार्च, 1948 में लोला-ईगोर के और ख़त आये। वे उम्मीद कर रहे थे कि राहुल दो साल में अपना काम पूरा करके लेनिनग्राद वापस लौट आएँगे। 'कितनी घोर निराशा होगी,' राहुल लिखते हैं, 'जब उन्हें असली बात मालूम होगी।' (IV, पृ. 280)

हुआ यही। राहुल अपने रूसी परिवार से इसके बाद तब ही मिले जब वे आख़िरी बीमारी के वक़्त 1962-63 में मास्को के एक अस्पताल में लाए गये। और तब वे लोला और ईगोर को— डर के मारे, या बीमारी के मारे— पहचान भी न पाए।

1948 के बाद जब सितम्बर 1953 में लोला की अगली चिट्ठी मिली, राहुल और कमला की शादी को पौने तीन साल हो चुके थे और जया का जन्म होने वाला था। दो दिन बाद 5 सितम्बर को ईगोर का जन्मदिन था, जिसके लिए राहुल ने तार भेजा। नवम्बर में लोला की एक और चिट्ठी आयी, ईगोर की एक नयी फ़ोटो के साथ।

यह सब देखकर कमला बेहद परेशान हुईं। 20 सितम्बर, 1953 को जया का जन्म हुआ, और डेढ़ साल बाद, जनवरी 31, 1955 को जेता का। राहुल कमला को आश्वासन देते :

> मेरी आवश्यकता यहाँ है। ईगोर ऐसे देश में पैदा हुआ है, जहाँ उसकी पढ़ाई-लिखाई में कोई दिक़्क़त नहीं हो सकती। ... अपने विद्या समाप्त करके वह अपने योग्य काम पा लेगा। अब वह 15 साल का भी हो गया है। मैं यह कभी नहीं कर सकता, अपने दोनों बच्चों ... को छोड़ना मेरे लिए बिल्कुल असम्भव है। (V, पृ. 130)

और नवम्बर 13 की चिट्ठी पाने के बाद, जब कमला ने यह चिट्ठियों का सिलसिला बंद करने को कहा, 'मैं कह चुका हूँ, कि जया को और तुम को मेरी आवश्यकता है। मैं रूस जाने की इच्छा नहीं रखता।' पत्र-व्यवहार बंद करने की बात पर :

> क्या इससे ... आत्महत्या आसान नहीं है। जो पिता ईगोर का प्रत्याख्यान कर सकता है, उस पर क्या विश्वास किया जा सकता है? जिस समय कमला से संबंध स्थापित हुआ, उस समय क्या आशा थी कि रूस से फिर संबंध स्थापित हो सकेगा? अब यदि यह हुआ, तो ईगोर के साथ नाता तोड़ना मानवता के ख़िलाफ़ है। (V, पृ. 134)

14 नवम्बर, 1953 को राहुल ने अपनी डायरी में लिखा : 'कल से मैं अपनी नज़र में गिर गया,

सारे जीवन के लिए। कमला का समझना बिल्कुल ठीक है। मैंने उसकी असहाय अवस्था का फ़ायदा उठाया। हाँ, परोपकार, दया दिखाने और क्या-क्या बहाना करके। वह क्यों मुझ पर विश्वास करने लगी?' (V, पृ. 134-5)

ऐसी स्थिति में राहुल की पहली पत्नी रामदुलारी देवी की तरह कमला परियार सांकृत्यायन भी बेसहारा थीं। कुछ हद तक येलेना नार्वेर्तोवना कोज़ेरोव्स्काया की स्थिति भी यही थी, क्योंकि अपने छोटे बच्चे को देखने-सँभालने की ज़िम्मेदारी उन्हीं पर थी। पुरुष-प्रधान समाज में औरतों से अपेक्षाएँ अनंत थीं, पर औरतों की ज़िंदगी का दायरा संकीर्ण था और कुछ अपने आप बनने-बनाने के रास्ते कम थे। कमला, येलेना और रामदुलारी देवी की इन हालात में प्रतिक्रिया क्या थी, आगे चलकर हम देखेंगे। उसके पहले, बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में शादी और घर के मायने क्या थे, इस पर प्रेमचंद और शिवरानी देवी के ख़याल भी सुन लीजिए।

प्रेमचंद और शिवरानी का 'आदर्श' ब्याह

प्रेमचंद और शिवरानी देवी दोनों ने अपनी शादी के बारे में लिखा है। दोनों इस शादी की तारीफ़ करते हैं— इसमें मिली ख़ुशी, ज़िम्मेदारी, हल्केपन, हँसी-मज़ाक़ और संरक्षण की। तब भी दोनों के बयान में बारीक पर महत्त्वपूर्ण फ़र्क़ है।

प्रेमचंद के देहांत के बाद शिवरानी देवी ने एक अनोखी, दिल बहलाने वाली किताब लिखी : *प्रेमचंद घर में*। इसमें पति की हार्दिक प्रशंसा पाई जाती है, मगर साथ में खिलवाड़, कसौटी और कई सवाल भी। शादी के समय शिवरानी 17 साल की थीं, प्रेमचंद 25 के। शिवरानी की याद में उनका दाम्पत्य जीवन एक सीखने, समझने, फूलने-फलने का सफ़र रहा। इसमें उत्सुकता, उत्तेजना और रोमांचक घटनाओं की जगह थी, मित्रता और प्यार की भी— हालाँकि वह मित्रता और प्यार धीरे-धीरे ही उभरा।

पतिदेव उन्हें नयी-नयी चीज़ें दिखाना-सिखाना चाहते थे : भाषाएँ जो वे नहीं जानती थीं; पढ़ना, लिखना, घूमना ... पत्नी बहुत कुछ सीखना चाहती थीं, और बहुत कुछ सीख गयीं— शायद ज़रूरत से ज़्यादा! यह भी कहीं-कहीं इन यादों से मालूम पड़ता है। प्रेमचंद ने शुरू से अपने लेख और कहानियाँ शिवरानी को पढ़ाईं। उर्दू और अंग्रेज़ी वे नहीं पढ़ती थीं— इन भाषाओं में अख़बार और कहानियाँ उन्हें पढ़ कर सुनाईं। जब शिवरानी ने ख़ुद लिखना शुरू किया, और उनकी कुछ रचनाएँ छपीं तो प्रेमचंद ख़ुश हुए। पर शिवरानी लेखन को अपना पेशा न बनाएँ, यह प्रेमचंद की निगाह में बेहतर था। जब उनकी किसी कहानी पर एक आलोचक ने सवाल उठाया कि क्या यह प्रेमचंद ने लिखकर बीवी के नाम छपवाई, तो प्रेमचंद ने शिवरानी से कहा : 'तुम कहानी क्या लिखने लगीं, मेरी जान की आफ़त कर दी। तुम्हें क्या सूझी? आराम से रहती थीं। नहीं, मुफ़्त की बला अपने गले पाल ली। अब से बेहतर है, मत लिखा करो।'[15]

इसी तरह और मामलों में भी दोनों के बीच छोटे-छोटे मुक़ाबले होते रहे— जैसे स्वतंत्रता संग्राम में शरीक़ हो कर जेल जाने की चाह, जिसे प्रेमचंद के मना करने पर भी शिवरानी ने पूरा किया, जबकि प्रेमचंद ख़ुद कभी न कर पाए।

शिवरानी के संस्मरणों के प्रेमचंद एक अत्यंत नम्र, परिश्रमी, हँसमुख, ज़िम्मेदार, भले मनुष्य प्रतीत होते हैं। यही छवि समकालीन मित्रों और जानने वालों की अन्य टिप्पणियों और लेखों में पाई जाती है। नौकरों और औरतों से काम करवाने में वे झिझकते थे; ख़ुद हाथ बँटाने लगते थे। ज़रा भी अफ़सरी का अंदाज़ न था; ठहाका मार कर हँसते थे (अपने गाँव, लमही, में वे इसी हँसी से जाने जाते थे!) शिवरानी लिखती हैं कि वे चाहते थे शिवरानी ख़ूब पढ़ें, पुराने रिवाज छोड़ें, बुज़ुर्गों के सामने पर्दा करने का ख़याल

[15] शिवरानी देवी (1956 / 2012), 97-98. आगे, उद्धरणों की पृष्ठ-संख्या मूल पाठ में दी गयी है.

वृद्धावस्था में शिवरानी देवी

''मैंने एक बाल-विधवा से शादी की, और उसके साथ काफ़ी ख़ुश हूँ। उसे भी साहित्य में कुछ रुचि हो गयी है, और वह कभी-क़दा कहानियाँ लिखती है। वह एक निडर, हिम्मती, दृढ़निश्चय-वाली, निष्कपट महिला है— अत्यंत विनम्र और अत्यंत आवेशपूर्ण। वह असहयोग आंदोलन से जुड़ी, और जेल गयी। मैं उससे ऐसा कुछ नहीं चाहता जो वह दे नहीं सकती, और ख़ुश हूँ ...''

ख़त्म करें, और जब हो सके, जहाँ हो सके, उनके (प्रेमचंद के) साथ जाएँ। घर में अपनी लिखाई और बाहरी कामकाज और ख़रीददारी के अलावा, वे और भी बहुत कुछ करते थे। घर की सफ़ाई और रसोई में लग जाते थे। बच्चे पैदा हुए तो उनकी देख-रेख, स्कूल के लिए तैयार करने और पढ़ाने में पूरा साथ दिया। और, शिवरानी बीमार हुईं तो हर तरह से देखभाल करने को तैयार रहे।

शादी के शुरुआती दिनों में माहौल ऐसा नहीं था। प्रेमचंद कहते थे कि शिवरानी को घर की मालकिन बन कर रहना है : पर अपनी सौतेली माँ से वे यह बात नहीं छेड़ते थे। शिवरानी सास से झगड़ा मोल लेने को तैयार न थीं। घर के लड़ाई-झगड़े, नुक़्ताचीनी और चिल्लाने के वातावरण से वे दूर भागती थीं, और जब मौक़ा हुआ मायके चली जाती थीं। 'मैं महीने भर यहाँ रहती थी तो दस महीने अपने घर।' (पृ. 29)

शादी के कोई आठ साल हो जाने पर स्थिति बदली। प्रेमचंद और शिवरानी के बीच खुल कर बातें हुईं, और प्रेमचंद ने कहा कि शिवरानी मायके चली जाती हैं तो उन्हें अकेलापन महसूस होता है : 'तुम यहीं रहो, मालकिन बनके रहो, यह तुम्हारा ही घर है। 'सच मानो, मैंने अपने को तुम्हें सौंप दिया है।' सौतेली माँ का ज़िक्र करते हुए प्रेमचंद ने सजल आँखों के साथ यह भी कहा कि माँ का असली प्रेम उन्हें कभी नसीब नहीं हुआ। बात शायद शिवरानी के दिल में गहराई तक बैठ गयी। 'उस रोज़ से मुझे उन पर दया आने लगी। उसी दिन से मैं उनमें मिलना चाहने लगी। ... तभी से मैं उनके घर को अपना घर भी समझने लगी।' (पृ. 33)

शिवरानी लिखती हैं कि समय के साथ दोनों में ग़ज़ब की आत्मीयता और अपनापन स्थापित हो गया। 'मैं घर की मालकिन ... (ही नहीं), उनके हृदय की मालकिन थी।' 'मेरा ख़याल था कि मैं सब कुछ हूँ।' (पृ. 168 और 162) पति-पत्नी के बीच उभरे प्रेम और प्रसन्नता का एहसास कई घटनाओं में प्रकट हुआ। 1933 में,लखनऊ विश्वविद्यालय के किसी जलसे के मध्यांतर में दोनों छात्रावास के पास नहर के बगल एक पेड़ की छाँव में बैठे थे। प्रेमचंद को इसके पहले मीटिंग में फूलों का हार दिया गया था। शिवरानी को पहनाते हुए, प्रेमचंद बोले, 'लो हमारी-तुम्हारी यह ख़ुशी की शादी रही।' (पृ. 189)

तब भी, उसी नहर के पास बैठे हुए, छात्रावास के युवक और युवतियों को टहलते, 'हँसी-ठट्ठा' करते हुए देखकर, प्रेमचंद चिढ़ गये। बोले : 'इन सबों को देखकर ऐसा लगता है, मानो राजकुमार और राजकुमारियाँ टहलने निकले हैं। लड़कियों को तो देखो तितली की तरह फुदक रही हैं।' और यह भी : 'विलासिता से [देश की] आज़ादी कभी नहीं आएगी। आज़ादी तो मिलती है तपस्या, त्याग और बलिदानों से।' (पृ. 190)

शिवरानी देवी सहमत भी रही हों— और कुछ हद तक अवश्य थीं— तो भी जवानी की उमंग

लेखन-कार्य में संलग्न प्रेमचंद
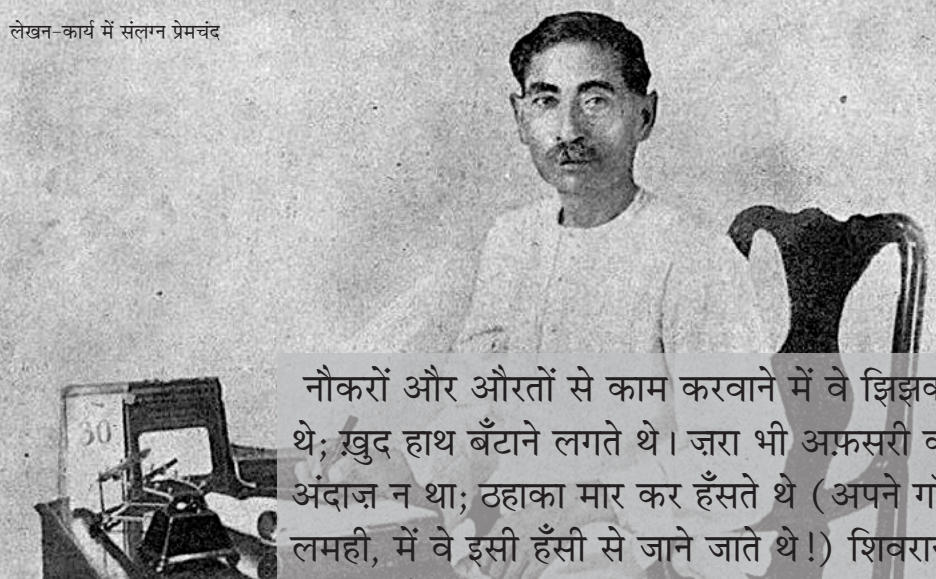
नौकरों और औरतों से काम करवाने में वे झिझकते थे; ख़ुद हाथ बँटाने लगते थे। ज़रा भी अफ़सरी का अंदाज़ न था; ठहाका मार कर हँसते थे (अपने गाँव, लमही, में वे इसी हँसी से जाने जाते थे!) शिवरानी लिखती हैं कि वे चाहते थे शिवरानी ख़ूब पढ़ें, पुराने रिवाज छोड़ें, बुज़ुर्गों के सामने पर्दा करने का ख़याल ख़त्म करें, और जब हो सके, जहाँ हो सके, उनके (प्रेमचंद के) साथ जाएँ। घर में अपनी लिखाई और बाहरी कामकाज और ख़रीददारी के अलावा, वे और भी बहुत कुछ करते थे।

को समझना चाहती थीं, कुछ छूट देना चाहती थीं। चाहे उमर में फ़ासले की वजह से, चाहे तजुरबों और राजनीतिक-साहित्यिक क्षेत्र में अलग दख़ल की वजह से उनकी और प्रेमचंद की आकांक्षाओं और रुझान में काफ़ी अंतर रहा। यह घर में दिखता था। प्रेमचंद बीवी और बेटों की ख़ूब सेवा करते थे : बेटी को लेकर उस समय के संस्कारों से बँधे थे, उनसे उबर नहीं पाए थे।[16] पर बीवी और बच्चों के अलावा, वह सौतेली माँ, सौतेले भाई, मामाओं और अन्य रिश्तेदारों का ज़िम्मा अपना समझते थे, जिसकी वजह से ये लोग उनके दाम्पत्य जीवन में दख़ल देते रहे। यही नहीं, उनके साहित्यिक काम— लिखना, सम्पादन, प्रकाशन— की छाया सारे घर पर हमेशा रहती थी। इस पर वह जी-जान देते थे। दिन के चौबीस घंटे भी ख़र्च कर सकते थे।

अंतत: स्वतंत्रता संग्राम के गाथाकार यह चाहते थे कि उनकी पत्नी स्वावलम्बी हों, आत्मनिर्भर, हिम्मती और सृजनात्मक, पर साथ में पूर्ण रूप से 'हिंदुस्तानी' भी— हिंदुस्तान की अद्वितीय विरासत को क़ायम रखने वाली देवी। उन्हीं के शब्दों में, 'त्याग, सेवा, पवित्रता, सब एक साथ, यही आदर्श नारी है। बे-इंतहा त्याग, सहनशीलता से लैस सेवा, और पवित्रता जिस पर कभी आँच न लगे।'[17]

प्रेमचंद ने शिवरानी देवी के साथ जीवन के बारे में कभी विस्तार से नहीं लिखा। पर 1935 के एक अंग्रेज़ी ख़त में वह ऐसी गहन बातें कह गये, जो घर-परिवार और दाम्पत्य जीवन में आदमी और औरत के 'प्राकृतिक' और 'अपेक्षित' आचरण के बारे में उनके ख़याल बख़ूबी दर्शाते हैं :

---

[16] अमृत राय (1962 / 2013) : 433. आगे, उद्धरणों की पृष्ठ-संख्या मूल पाठ में दी गयी है.

[17] इंद्रनाथ मदान (1946) : 167. हिंदी अनुवाद मेरा. आगे, उद्धरणों की पृष्ठ-संख्या मूल पाठ में दी गयी है.

मेरे वैवाहिक जीवन में रोमांचक भाव कुछ नहीं है। यह बिल्कुल साधारण क़िस्म का है। मेरी पहली पत्नी 1904 में गुज़र गयी। [इस वाक्य के बारे में आगे और कहूँगा] बेचारी दुर्भाग्यपूर्ण थी, ज़रा भी आकर्षक नहीं, और हालाँकि मैं उससे संतुष्ट नहीं था, मैं शिक़ायत न करके काम चलाता रहा जैसे पुराने पति करते हैं। जब वह गुज़र गयी मैंने एक बाल-विधवा से शादी की, और उसके साथ काफ़ी ख़ुश हूँ। उसे भी साहित्य में कुछ रुचि हो गयी है, और वह कभी-क़दा कहानियाँ लिखती है। वह एक निडर, हिम्मती, दृढ़निश्चय-वाली, निष्कपट महिला है— अत्यंत विनम्र और अत्यंत आवेशपूर्ण। वह [गाँधी जी के] असहयोग आंदोलन से जुड़ी, और जेल गयी। मैं उससे ऐसा कुछ नहीं चाहता जो वह दे नहीं सकती, और ख़ुश हूँ ...

सच पूछो, तो जीवन मेरे लिए बस काम, काम, काम रहा है। सरकारी नौकरी में था तब भी सारा समय साहित्यिक कार्य में बिताता था। मुझे काम करने में आनंद मिलता है।[18]

सास और देवर (सौतेले), और प्रेमचंद के अन्य रिश्तेदारों के साथ-साथ देश और समाज-सेवा की इस साकार मूर्ति को शिवरानी देवी— और उनके जैसी अनेकों और पत्नियाँ— कैसे निभा गयीं, सोचने की बात है। सास-देवर की ग़ैर-हाज़िरी में भी लोला (येलेना) कोज़ेरोव्स्काया और कमला सांकृत्यायन को उसी समाज-और देशसेवा नामक मूर्ति का सामना करना पड़ा। निश्चित है कि घर-परिवार और दाम्पत्य जीवन की ज़रूरतों पर इन सब का दृष्टिकोण इनके पतियों से बहुत अलग था। इस गहरे मतभेद के क्या नतीजे हो सकते थे, इसका कुछ अंदाज़ मिलता है इन वीरांगनाओं के आपसी वार्तालाप और गिनी-चुनी मुलाक़ातों को लेकर इन्हीं के विश्लेषण में।

आदमियों की गुप्त क्रिया— औरतों का संरक्षण

प्रेमचंद के वैवाहिक जीवन की कहानी के साथ ही इस आख्यान को अभी जारी रखते हैं। उनकी माँग कि उनकी पत्नी पढ़ी-लिखी, स्वावलम्बी और स्वाधीन होने के साथ-साथ पुराने संस्कारों से भी जुड़ी रहें, इस जीवन का अकेला अटपटा पहलू नहीं है। राहुल सांकृत्यायन की तरह प्रेमचंद ने भी अपनी पूर्व शादी की पूरी कहानी नयी पत्नी से छिपाई। शिवरानी को शादी के वक़्त मालूम नहीं था कि प्रेमचंद की पहली पत्नी ज़िंदा हैं। उनका ख़याल था कि वह गुज़र गयी हैं— जैसे प्रेमचंद ने ऊपर बयान किये गये 1935 के ख़त में एक बार फिर कहा। शादी के नौ साल बाद 1914 में शिवरानी को पता चला कि पहली बीवी ज़िंदा हैं और पैतृक गाँव में रह रही हैं, वह भी एक मिलने वाले (पहली पत्नी के भाई) की संयोग से सुनी बातों से। जब शिवरानी ने कहा कि प्रेमचंद से उन्हें ऐसे फ़रेब की उम्मीद नहीं थी, प्रेमचंद ने जवाब दिया : 'जिसको इंसान समझे कि जीवित है, वही जीवित है, जिसे समझे मर गया, वह मर गया।' (पृ. 45) एक अद्‌भुत तर्क।

नयी जानकारी के बाद ज़माने की उलझी हुई आदर्शवादी-परम्परावादी मध्यवर्गीय नैतिकता का असर देखिए। शिवरानी ने प्रेमचंद से कहा— आप पहली पत्नी को यहीं घर में बुलाइए। और प्रेमचंद के न मानने पर पूछा : 'क्या यही हिंदू संस्कार के मानी हैं?' (पृ. 45) शिवरानी ने ख़ुद ख़त लिखकर घर बुलाया, और दोनों के बीच चिट्ठी-पत्री कुछ दिन चली (हालाँकि पहली पत्नी कैथी में लिखती थीं, जो शिवरानी नहीं जानती थीं, और उनके पत्र प्रेमचंद को पढ़ने पड़ते थे)। इसे शायद सौभाग्य ही समझा जाएगा कि पहली पत्नी ने कहा कि वे तब ही लौटेंगी जब प्रेमचंद उन्हें लेने आयें, और प्रेमचंद ने लाने से इनकार कर दिया।

इस विवाद को लेकर शिवरानी की यादों में पति-पत्नी ने क्या कहा, उद्धृत करने लायक़ है :

मैं— 'मैं इसे मानने को तैयार नहीं हूँ। आप कृपा करके उन्हें ले आइए।'

'मैं तो लेने नहीं जाऊँगा।'

---

[18] इंद्रनाथ मदान, वही.

मैं— 'क्यों नहीं जाइएगा? शादी हुई थी, तमाशा नहीं था।'
'मैंने शादी नहीं की थी। मेरे बाप ने शादी की थी।'
मैं— 'बाप ने तो जो अपनी शादी की थी, उसे आप गले बाँधे फिर रहे हैं। (यानी, सौतेली माँ का अब भी पूरा ख़याल करते हैं।) बाप की शादी की ज़िम्मेदारी तो आपके सिर है, अपनी नहीं? यह ज़िम्मेदारी का तुक नहीं है।' (पृ. 45)

और एक दूसरे मौक़े पर :

मैं— 'पुरुष का काम यह है कि स्त्री को ब्याह कर लाए तो उसका मालिक बने।'
वे हँस कर बोले— 'अब तो मैंने आपको मालिक बना दिया।'
'मुझे मालिक बना दिया। एक की मिट्टी-पलीद कर दी। जिसकी कुरेदन मुझे हमेशा होती है। जिसे मैं बुरा समझती हूँ, वह हमारे ही यहाँ हो और हमारे हाथों हो। मैं स्वयं तकलीफ़ सहने को तैयार हूँ; परंतु स्त्री जाति की तकलीफ़ नहीं देख सकती। ... '
'मैंने उनको उनके घर पहुँचा दिया और ख़ुद अपने यहाँ रह गया। मेरी क्या ज़्यादती?'
मैं— 'आप पुरुष थे, आप मुझे ब्याह लाये, वे तो घर में बैठी हैं। यह क्या स्त्रियों के साथ अन्याय नहीं है? मैं भी बदसूरत होती तो आप मुझे भी छोड़ देते। ...' (पृ. 26-27)

एक आख़िरी कष्टदायक घटना। प्रेमचंद के अंतिम दिनों में जब शिवरानी हफ़्तों रात-दिन सोना-जागना एक करके उनकी सेवा कर रही थीं, प्रेमचंद ने उनसे कहा कि मुझे एक और चोरी बतानी है, 'मैंने अपनी पहली स्त्री के जीवन-काल में ही एक और स्त्री रख छोड़ी थी। तुम्हारे आने पर भी मेरा उससे संबंध था।' शिवरानी ने बस इतना कहा, 'मुझे मालूम है,' और चाहा कि प्रेमचंद और न बोलें। प्रेमचंद उनकी तरफ़ हक्का-बक्का हो कर देखते रहे, फिर रो पड़े :

भगवान ... अगर हो तो ... जो यह ... निष्कपट मेरी सेवा कर रही है, महज़ इसके लिए मुझे तुम एक बार ज़िंदा कर दो। ... अगर भगवान, तू मेरी इस प्रार्थना पर कान नहीं देता तो अगले जन्म में फिर इन्हें तू मुझसे मिला दे। अगर नहीं मिलाया तो मैं यही समझूँगा कि मेरा जन्म व्यर्थ ही गया। (पृ. 295-6)

प्रख्यात उर्दू शायर फ़िराक़ गोरखपुरी प्रेमचंद के प्रशंसक थे। वे उन्हें एक बुज़ुर्ग, महान कलाकार और विचारक मानते थे। पर स्त्री-जाति को प्रेमचंद ने जिस दायरे में बाँध रखा था, उसके वे आलोचक थे। लिखते हैं कि औरत प्रेमचंद के लिए 'बहन, बेटी, माँ, पड़ोसिन, सहकारी, जीवन-साथी, गृहलक्ष्मी, देवी, सब कुछ हो सकती थी, और ऐसी स्त्री के चरित्र भी उनकी रचनाओं में कई एक मिलते हैं। लेकिन ऐंद्रिकता के बल पर छा जाने वाली हस्ती के रूप में स्त्री का चरित्र उनकी चेतना में न आ सकता था।'[19]

प्रेमचंद की काल्पनिक नारी को 'आधुनिक' भी होना था, तथापि मूल रूप से 'भारतीय' भी। 'पाश्चात्य' की मारी, विलासी, अहंकारी, तितलीनुमा फुदकती, हँसी-ठट्ठा करने वाली औरत के विपरीत, प्रेमचंद की आदर्श स्त्री भारतीय मिथक की सती-सावित्री, सेवा-सुश्रुषा देने वाली, विनम्र और शांत माँ थी— और पत्नी और बेटी जिसे माँ का रूप धारण करना था। शायद उस भूली हुई माँ की तरह जिसे प्रेमचंद ने बहुत छुटपन में ही खो दिया था, और शायद राजेंद्र प्रसाद और महात्मा गाँधी की 'बा' की तरह।

कुछ हद तक शिवरानी देवी भी इसी आदर्श को मानती थीं। पर जाने-अनजाने, उनकी ज़िंदगी (और यादों) में इस मूर्ति के कुछ अन्य पहलू भी दिखाई देते हैं। इसीलिए उन्होंने आठ साल तक पति के घर को अपना घर नहीं माना। और उस दौरान और उसके बाद भी सास से उलझने-झगड़ने से बिल्कुल इनकार कर दिया। ज़रूरत पड़ने पर उठ कर मायके भी चली जाती रहीं। घर-समाज और पति की अंट-संट माँगों को किस-किस तरह औरतों को झेलना पड़ा, यह कमला और राहुल सांकृत्यायन के दाम्पत्य जीवन में और भी स्पष्ट नज़र आता है।

---

[19] अमृत राय, वही : 174.

एक घर, दो दास्ताँ

कमला राहुल की ज़िंदगी में तब आयीं जब वे बीमारी के शिकार होने लगे थे। इस बात को लेकर वे परेशान थे कि गिरते स्वास्थ्य का उनके आध्यात्मिक और साहित्यिक काम और देश-सेवा पर असर क्या होगा। राहुल और कमला चौदह साल साथ रहे। इस बीच कमला ने बराबर उनकी देखभाल की। साथ में बच्चों का पालन-पोषण, और ख़ुद की पढ़ाई और नौकरी ढूँढ़ने का काम भी करती रहीं। जून, 1949 और दिसम्बर, 1961 के बीच (जब दिल के बुरे सदमे के बाद राहुल हमेशा के लिए अपनी याददाश्त और मानसिक शक्ति खो बैठे) कमला ने उनके साहित्यिक कार्य में भी मदद की— और सम्पादन का काम राहुल के मरने के बहुत बाद तक चलता रहा।

राहुल के देहांत को तीस साल हो चुके थे जब कमला ने उनकी आत्मकथा का आख़िरी (छठा) भाग तैयार करके शाया किया। इस भाग में कमला राहुल की ज़िंदगी के अंतिम सात वर्ष यानी अप्रैल, 1956 से अप्रैल, 1963 तक का वृत्तांत पेश करती हैं। उन्हीं की आत्मकथा रहे, इसलिए जहाँ तक मुमकिन था वे राहुल के अपने शब्दों का इस्तेमाल करती हैं— उनकी दैनिकी और चिट्ठियों से लेकर और दिसम्बर, 1961 के हादसे के बाद (जब राहुल ने लिखना बंद कर दिया) कमला की अपनी रोज़ लिखी गयी टीकाओं के आधार पर। वह चाहती थीं कि राहुल की जीवन-यात्रा के प्रारम्भिक भागों से प्रभावित होने वाले पाठक यह देखें कि 'जीवन के शेष वर्षों में अपनी रुग्णावस्था में भी वे कितने परिश्रमशील रहे, देश की नयी पीढ़ी को कुछ अधिक बौद्धिक ख़ुराक दे जाने के लिए कितने काम किये, कितने स्थानों का भ्रमण किया, अपने परिवार के साथ वे कितने जुड़े हुए थे, इससे भी अधिक वे कितने ईमानदार इंसान थे।' (VI, पृ. 289)

घर-परिवार को लेकर कमला और राहुल के ख़याल कहाँ मेल खाते हैं, कहाँ टकराते हैं, जीवन-यात्रा के इस आख़िरी खण्ड के प्रबंध और विषय-सूची में नज़र आता है। साथ में राहुल की नून-तेल-लकड़ी को लेकर उलझन, और बढ़ती उम्र की उम्मीदों, उमंगों और परेशानियों से जुड़े अंतर्विरोध भी।

राहुल के व्यक्तिगत, आत्मीय चिट्ठी-पत्री के व्यापक उद्धरण से ही उनकी आत्मकथा के इस अंतिम भाग का रूप अन्य भागों से अलग हो जाता है। खतों में प्यार, चाहत और उद्विग्नता का खुला प्रदर्शन है— जो शायद उस समय और समाज में कम पाया जाता था। राहुल कमला को 'रानी', 'प्यारी', 'प्रियतमे', 'प्राण-से' कहकर सम्बोधित करते हैं, उसे 'बार-बार चुम्बन-आलिंगन' और जया-जेता को प्यार— भेजते हैं। 12 नवम्बर और 23 दिसम्बर, 1956 के बीच राहुल घर से बाहर दिल्ली, इलाहाबाद, गोरखपुर, नेपाल में थे। इस दौर की पूरी ग्यारह चिट्ठियाँ कमला पहले अध्याय में पूर्णत: शाया करती हैं, जिनमें राहुल बीवी-बच्चों से दूर होने के दुख, उनसे लगाव, उनकी चिंता, बार-बार दोहराते हैं। साथ में इशारे से ही सही, अपना अपराध-बोध भी कि उन्होंने इस यात्रा के तुरंत पहले अपनी पहली पत्नी के भतीजे और उसके बच्चों से मिलवा कर कमला का दिल बुरी तरह दुखाया। 'दिल रोके नहीं रुकता, इसलिए रोज़-रोज़ पत्र लिख रहा हूँ।' (काठमाण्डू, 15 नवम्बर, 1956)। और अगली रात :

> चार ही दिन तुम्हें विदा किये हुआ पर विश्वास नहीं होता। जान पड़ता है कई सप्ताह, कई मास बीत गये हैं। और अभी जल्दी करने पर भी दस दिन से पहिले तुम से मिलना नहीं हो सकेगा। ... प्रयाग में रोज़-रोज़ की चिट्ठी पाना चाहता हूँ। लिखती जाना।.... हृदय का आवेग और उत्सुकता तब तक बढ़ती ही जाएगी, जब तक प्रयाग में तुम्हारा पत्र नहीं पा लूँगा। (VI, 329 और 330)

इसी तरह की चिट्ठियाँ आगे के अध्यायों में भी हैं।

पर राहुल की बातों और गतिविधियों में जहाँ बीवी-बच्चों के प्रति प्रेम और चाहत और चिंता एक तरफ़ है, वहीं ढलती ज़िंदगी और स्वास्थ्य से त्रस्त अभिलाषाओं, आकांक्षाओं और निराशाओं का बोझ दूसरी तरफ़ है। राहुल के पुरुषत्व और आत्मविश्वास से टकराता उनकी कमज़ोरियों और ज़रूरतों का अंतर्द्वंद्व उनकी और कमला की भेंट के समय से ही प्रतीत होने लगता है।

मिलने के बाद, जब कमला ने राहुल की रचनाओं की प्रतिलिपि बनाना और उन्हें टाइप करना शुरू किया तो *घुमक्कड़ शास्त्र* (1949) पर काम हो रहा था। इस किताब में राहुल एक क़िस्म की विरह-भक्ति का प्रचार करते हैं— जिसमें घर, निवास, वस्तु, व्यक्ति से लगाव क्षणिक है, और 'घर' कई जगहों में और कई परिस्थितियों में बनता है। जो घुमक्कड़ धर्म की दीक्षा लेता है, उसे सांसारिक लगाव से दूर होना ज़रूरी है। इसी महान धर्म को हिंदुस्तान के निर्माता— 'गौतम बुद्ध, गुरु-नानक, दयानंद सरस्वती अनगिनत श्रेष्ठ पुरुषों'— ने अपनाया। गुरु नानक ने 'भारत भ्रमण को ही पर्याप्त नहीं समझा और ईरान और अरब तक का धावा मारा।' 'स्वामी दयानंद को ऋषि दयानंद किसने बनाया? घुमक्कड़ी धर्म ने।'[20]

राहुल यहाँ तक बात ले जाते हैं; 'चलना मनुष्य का धर्म है। जिसने उसे छोड़ा, वह मनुष्य होने का अधिकारी नहीं है।' जो इस उच्चतम रास्ते को अपनाते हैं, उन्हें लगाव और चिंता को त्याग देना है। 'घुमक्कड़ी के लिए चिंताहीन होना आवश्यक है और चिंताहीन होने के लिए घुमक्कड़ी ...।' घुमक्कड़-धर्म को मानने वाले युवक और युवती को 'न माता के आँसू बहने की परवाह करनी चाहिए, न पिता के भय और उदास होने की, न भूल से विवाह लाई अपनी पत्नी के रोने-धोने की फ़िक्र करनी चाहिए और न किसी तरुणी को अभागे पति के कलपने की।' (पृ.10, 11 और 12)

इसी प्रवाह में राहुल कहते हैं कि घर, जन्मभूमि, प्यार-मुहब्बत और ब्याही पत्नी को त्याग देना भी नेमत है। घुमक्कड़ी का यह मतलब नहीं कि जन्मभूमि से प्रेम का नाता टूट जाए। 'बल्कि जन्मभूमि का प्रेम और सम्मान पूरी तरह से तभी किया जा सकता है जब आदमी उससे दूर हो।' 'स्नेह में'— चाहे वह 'कड़ा बंधन' माँ या पत्नी या बच्चे के स्नेह का हो— 'यदि निरीहता सम्मिलित हो जाती है, तो वह और भी मज़बूत हो जाता है।' (पृ.14) और इस विचारधारा में घर-बैठी पत्नी को छोड़ना भी वाजिब है।

> 21 साल से पहले तरुण या तरुणी पर उसके ब्याह की ज़िम्मेवारी नहीं होता। ऐसे ब्याह को न्याय और बुद्धि ग़ैर-क़ानूनी मानती है। तरुण या तरुणी को ऐसे बंधन की ज़रा भी परवाह नहीं करनी चाहिए।....
>
> घुमक्कड़ यदि ऐसी मिथ्या परिणीता को छोड़ता है, तो वह घर और सम्पत्ति को तो कंधे पर उठाए नहीं ले जाता। जिसने अपनी लड़की दी है, उसने पहले व्यक्ति का नहीं, घर का ख़याल करके ही ब्याह किया था। घर वहाँ मौजूद है, रहे वहाँ पर। यदि वह समझती है कि उस पर अन्याय हुआ है, तो समाज से बदला लेती।

परिणामत: 'घुमक्कड़, होश या बेहोश, किसी भी अवस्था में ब्याही पत्नी को छोड़ जाता है, तो उससे राष्ट्रीय दृष्टि से कोई हानि नहीं, बल्कि लाभ है।' (17)

याद रहे कि जब वे इस किताब को 1949 में 'लिख' रहे थे, राहुल ने एक नहीं बल्कि दो पत्नियों को त्याग दिया था। इस संदर्भ में उनके ये विचार अत्यंत स्वेच्छाचारी जान पड़ते हैं। हैरानी बढ़ती ही है जब ख़याल आता है कि जो इनसान इस किताब की नक़ल उतार कर इसे तैयार कर रहा था, वह जवान और ग़रीब कमला थीं— जो इन्हीं दिनों में राहुल की सहकारी, सेवक (नर्स) और साथिन बनकर उनके घर में रहने लगी थीं। इसी अनजाने- या अनमान- विरोधाभास की ध्वनि राहुल के उलझे हुए ख़यालों में सुनाई देती है जो उन्होंने कमला के साथ शादी के वक़्त, और फिर तीन साल बाद, अपनी डायरी में व्यक्त किये (इन्हें मैं ऊपर भी उद्धृत कर चुका हूँ):

> कमला को साथ रहते अब डेढ़ वर्ष से ऊपर हो गया था... स्त्री-पुरुष के ऐसे घनिष्ठ संबंध को अनिश्चित स्थिति में रखना ठीक नहीं था। पुरुषों के राज़ में स्त्रियों के लिए यह स्थिति और भी असह्य थी। इसलिए 18 दिसम्बर को हमने निश्चय किया कि दोनों पति-पत्नी बन जाएँ।....

---

[20] राहुल सांकृत्यायान (1949 / 1956 दूसरा संस्करण / 2014) : 10. आगे, उद्धरणों की पृष्ठ-संख्या मूल पाठ में दी गयी है.

कल से मैं अपनी नज़र में गिर गया, सारे जीवन के लिए। कमला का समझना, बिल्कुल ठीक है। मैंने उसकी असहाय अवस्था का फ़ायदा उठाया। हाँ, परोपकार, दया दिखाने और क्या-क्या बहाना करके। वह क्यों मुझ पर विश्वास करने लगीं?

जीवन-यात्रा के पहले पाँच भागों में तथा अन्य कृतियों में, राहुल पूर्ण, प्रबुद्ध इंसानियत के लिए मनुष्य को बेपरवाही के साथ घूमने-फिरने-विचरने की सीख देते हैं। इस 'पूर्ण इंसान' की अवधारणा में घर और दाम्पत्य जीवन की जगह स्वभावत: तंग है। कमला की ज़िंदगी और लेखनी में इन्हीं मुद्दों को लेकर एक दूसरा ही नज़रिया पाया जाता है— जो सामाजिक परिस्थितियों, आत्मीयता, चाहत और प्यार, ख़ुशियाँ और दर्द, और (शायद सबसे बढ़कर) आदमी और औरत की आम ज़िम्मेदारी से जुड़ा बहुत अलग संघर्ष दर्शाता है।

शादी के शुरुआती दिनों से ही कमला को अनेक काम सँभालने पड़े। राहुल के लेखन की दिनचर्या, नून-तेल-लकड़ी का बंदोबस्त, राहुल के लिए गाना और गुनगुनाना (कभी-कभी तब तक, जब तक उन्हें नींद नहीं आती थी)।[21] साथ में, राहुल यह भी चाहते थे कि कमला अपनी हिंदी की पढ़ाई आगे बढ़ाएँ, ख़ूब पढ़ें, नयी डिग्रियाँ हासिल करें, निर्भय और आत्मनिर्भर जीव बनें।

1950 से 1959 तक राहुल और कमला का घर मसूरी (उत्तर प्रदेश, आज के उत्तराखण्ड) में था। इसी बीच 1953 और 1955 में, उनके दो बच्चों का जन्म हुआ। बच्चों के जन्म के बाद कमला के एक चचेरे भाई ने राहुल के लेखन को उतारने और टाइप करने का काफ़ी काम अपने हाथों लिया। इन्हीं वर्षों में कमला की तीन छोटी बहनें, एक भाई, और कुछ दिनों के लिए माँ भी बारी-बारी से आकर घर में रहे। घर के काम में मदद की, और राहुल और कमला ने छोटे भाई-बहनों को स्कूल में भी भेजा। एक-आध नौकर भी घर की देखरेख, सफ़ाई, रसोई और बाहर के काम में मदद करने आते। इसके बावजूद, कमला का कार्य-भार कम न हो कर बढ़ता गया।

बच्चों के साथ राहुल की देख-भाल, और स्वभावत: माँ और बहनों की (जिन्हें कालिम्पोंग से दूर, हिंदी-भाषी इलाक़े में रहने और स्कूल जाने की आदत नहीं थी)। घर, रसोई, नौकरों और मिलने वालों का ध्यान रखना। हालाँकि छोटे पहाड़ी शहर के सुनसान इलाक़े में रहने से कुछ बचत थी, फिर भी रिश्तेदारों, दोस्तों, शिष्यों, मशहूर पण्डित राहुल सांकृत्यायन और (गर्मी के मौसम में) पहाड़ की ठण्डी हवाओं को चाहने वालों की कमी नहीं थी। इतवार का दिन मिलने वालों के लिए निर्धारित हुआ। राहुल अपना लेखन-कार्य सुबह और जल्दी शुरू कर देते थे। पर मिलने वाले कभी भी पहुँच जाते। और 'राहुलजी, मित्रों के बीच में रहना पसंद करने वाले जीव,' (VI, पृ. 343) कभी इनकार नहीं करते। बल्कि सर्दियों में, जब मिलने वाले कम होते, तो सूनापन महसूस करते। चिड़चिड़े हो जाते।

बच्चों की पैदाइश के बाद राहुल अपने ढलते स्वास्थ्य और स्थायी नौकरी व आमदनी न होने की वजह से अत्यधिक परेशान रहने लगे। ज़ोर देने लगे कि कमला संस्कृत सीख कर पुराने ग्रंथों का अनुवाद करें, एम.ए. और पीएचडी पूरी करें, और अध्यापन-कार्य शुरू करें— जिससे उनका और बच्चों का भविष्य सुरक्षित हो जाए। बीमारी में वे कमला को दूर जाने भी नहीं दे सकते थे। 'मेरे घर में न रहने से उनकी देखभाल अच्छी तरह से कौन करता। यह उनको अच्छी तरह मालूम था।' (VI, पृ. 382) इन सब परिस्थितियों के कारण राहुल चिड़चिड़े रहते थे, गुस्सा करते थे।

भावी कल्पनाओं और ख़ुदगर्ज़ 'शुभचिंतकों' से सुनी सुनाई बातों को लेकर राहुल कहीं दूर के बौद्धिक स्थान से बाहरी आलोचक की तरह कमला का विश्लेषण करते। कमला नून-तेल-लकड़ी, घर-कामों पर नाजायज़ वक़्त बर्बाद करती है। बच्चों को अच्छे से नहीं समझाती, उन्हें मारती-पीटती है। पढ़ाई-लिखाई, शोध और डिग्रियाँ हासिल करने के लिए उसमें ज़रूरी लगन नहीं है। हीन-भावना

[21] कमला सांकृत्यायन (1995) : 70.

से उबर नहीं पाई है। भावुक हो जाती है। यह सब वह अपनी दैनिकी में लिखते, कुछ दोस्तों से कहते और यदा-क़दा कमला से भी।

कमला लिखती हैं : राहुल भूल जाते थे कि वे कमला से 37 साल बड़े हैं, उसके पिता की उम्र के। कमला का अनुभव, पाण्डित्य, शक्ति उनसे कितनी कम थी, उससे अपेक्षाएँ कितनी ज़्यादा। यह भी लिखती हैं कि राहुल अपनी पत्नियों की शिक़ायत बराबर करते रहे। यही उन्होंने लोला के साथ किया था : और वह बेचारी उनकी हिंदी में लिखी दैनिकी पढ़ भी न पाई। कमला की बारी आयी, तो :

> डायरी क्या हुई, मेरे बारे में शिक़ायतों की पिटारी हो गयी। और कोई बात लिखने की न हुई तो चलो कमला के बारे में अंटसंट लिखें। ... बस कमला के दोष पर रामायण लिख कर वे अपने संन्यासी मित्र के पास भेजने में अपने पाण्डित्य को सफल समझते थे। काश, उस समय मुझमें बोलने की शक्ति होती। या मेरे घर के लोग धन की दृष्टि से मज़बूत होते। असहाय नारी पर इस प्रकार मानसिक अत्याचार करना पण्डितजी जैसे व्यक्ति को शोभा नहीं देता, यह बात उस समय भी मैं बोल देती थी। ... किंतु मैं उनसे लड़ाई नहीं लड़ती थी, चुपचाप आँसू बहाकर ही रह जाती थी। (VI, पृ. 361)

उन दिनों के तनाव को देख कर कमला का मन बोझिल हो जाता था। 'क्या हुआ है इनको? क्यों इतना उखड़े-उखड़े रहते हैं। हमने इनका क्या बिगाड़ा।' वे लिखती हैं : 'मुझे पण्डितजी जैसे महाविद्वान से ऐसे सामान्य आचरण की आशा क़तई नहीं थी।' इन हालात में गृहलक्ष्मी की प्रतिक्रिया सीधी थी : 'घर में मेरा सिर्फ़ पढ़ना ही काम नहीं था। घर-गृहस्थी और बाल-बच्चों को भी तो सँभालना था। गृहिणी होकर गृह से बेख़बर कैसे रह सकती थी? किंतु उस समय उन्हें कुछ भी कहना बेकार था। मन उनका बड़ा कमज़ोर बन गया था।' (VI, 382, 361 और 368)

मर्दों की उलझनों और दुराचार को बतलाते हुए कमला उस राहुल-भक्त का भी ज़िक्र करती हैं जिसने चरम दुस्साहस और अक्खड़पने में लिखा कि 'कमला के साथ तीसरे विवाह ने तो राहुलजी के जीवन को नरक ही बना दिया। नहीं तो राहुलजी शेर की तरह मस्त घूमा करते।' कमला का संक्षिप्त और मुँहतोड़ जवाब है :

> हाँ, शेर तब तक ही मस्त रहता है, जब तक कि उसके शरीर में ताक़त रहती है, कर्मठता रहती है। और शेर को भी शेरनी का साहचर्य चाहिए। और शेर भी एक दिन बूढ़ा हो कर मर जाता है ... राहुलजी अब वह पहले के 'डेरिंग राहुलजी' नहीं हैं। अब तो भोजन करने से पहले रोज़ इंसुलिन की शरण लेनी पड़ती है, और भी कई शारीरिक कष्ट हैं उनको। (VI, पृ. 378-9 और 382)

इस टिप्पणी को वे आसानी से बढ़ा सकती थीं। पर राहुलजी की याद (और सेवा) में, इतने पर ही छोड़ देती हैं।

आत्मीयता के अद्‌भुत ढंग

राहुल का अपनी तीसरी पत्नी के प्रति बर्ताव, उनके ही नहीं अनेक 'आधुनिक', हिंदुस्तानी और विदेशी आदमियों के जीवन में जाना-पहचाना सा लगता है। घर में बेचैनी और खीज। घर के बाहर और भी बेचैनी, और भावुकता। प्यार-मुहब्बत और स्नेह की बातें मिनटों में शिक़ायत में बदल जाती हैं। जहाँ प्रेम और सहानुभूति एक तरफ़ दिखती है, वहीं राहुल का उखड़ा रहना, नुक़्ताचीनी और चिड़चिड़ापन— और कमला के आँसू — दूसरी तरफ़। 'एक तरफ़ तो वे अपनी पत्नी पर अगाध प्यार की वर्षा करते थे तो दूसरी तरफ़ इस तरह भावी कल्पनाओं में डूब कर अपनी पत्नी को रुला-रुला कर उसका मानसिक शोषण भी करते रहे। राहुलजी आपको समझना ही कठिन है।' अन्यत्र, वर्ष 1957 के शुरू की बात : 'पण्डितजी का मेरे प्रति विश्लेषण चल रहा था।' प्यार और सहानुभूति के साथ शक और शिक़ायत। 'नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण बड़ा विचित्र था। लोला के प्रति भी उनका यही दृष्टिकोण रहा।' (VI, 378 और 341-2).

कमला लिखती हैं, 'आज जब सोचती हूँ, तो मुझे ऐसा लगता है कि उनको अपनी प्रतिष्ठा से ज़्यादा मोह था।' (पृ. 378) 'प्रतिष्ठा के मोह' में परिवार के रहन-सहन, मान और भविष्य की परेशानी अग्रिम थी। राहुल इस पूरे दौर में आमदनी और बीवी-बच्चों के लिए अच्छी पढ़ाई और अच्छे घर के इंतजाम के फेर में लगे रहे। नये काम, नयी योजनाओं और विदेश-यात्राओं की खोज में रहे। बहुत हद तक इसीलिए 1959 से 1961 तक केलानिया (श्रीलंका) के विद्यालंकार विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर और दर्शनशास्त्र के विभागाध्यक्ष बनकर गये।

परंतु राहुल की बेचैनी और उद्विग्नता के पीछे कारण और भी थे। अधेड़ उम्र के अन्य बुद्धिजीवियों और महानुभावों की तरह राहुल को भी शायद जीवन-कार्य और ख़ुद को प्राप्त मान्यता में अधूरेपन का एहसास हो रहा था। बढ़ती उम्र और बीमारियों (डायबिटीज, दिल की कमज़ोरी) के साथ-साथ राहुल में मायूसी और मन की कमज़ोरी भी बढ़ती जा रही थी। काम कितना बाक़ी था, वक़्त कितना कम।

1950 से 1960 के बीच पूरे दशक में दो छोटे बच्चों के रहते हुए और उम्र और बीमारियों के प्रहार के बावजूद, राहुल बौद्धिक-साहित्यिक कामों को तुरंत पूरा करने के आवेग में थे। अप्रैल, 1956 के बारे में कमला लिखती हैं : 'उन दिनों राहुलजी का दिमाग़ और उनकी टाइपिस्ट की ऊँगलियाँ मानो एक साल दूसरे से प्रतियोगिता कर रही थीं।' (पृ. 293) (उस समय जया ढाई साल की थी, और जेता एक साल का।) अगस्त 1957 के बारे में : 'उनका ... एक पैर घर से बाहर ही रहता था और बाहर से निमंत्रण भी नित्य आते रहते।' (पृ. 382) पर, जैसा कि होता है, हमेशा पूरे नहीं होते।

एक बृहत हिंदी विश्वकोश के सम्पादन का काम उन्हें देने का आश्वासन मिला। पर वचन देने वाले विश्वस्त सूत्र भी मुकर गये। चीन (और सम्भवतः तिब्बत) जाने की बात छिड़ी— पर खिंचती गयी। इस एक सम्भावी यात्रा को लेकर कमला और राहुल के बीच 1956 से 1958 के बीच दो साल से अधिक खटपट होती रही। और यह तब, जब वहाँ से कोई औपचारिक निमंत्रण तक नहीं आया था। जैसे और जगहों के दौरों के लिए उनकी इच्छा थी, चीन की यात्रा पर भी राहुल चाहते थे कि कमला उनके साथ जाएँ— बच्चों को या बड़ी बच्ची को स्कूल में छोड़ना पड़े, तब भी। राहुल की शारीरिक-मानसिक स्थिति को देखते हुए, कमला नहीं चाहती थीं कि वे किसी भी लम्बी विदेश-यात्रा पर जाएँ। बच्चों को पीछे छोड़ने में भी उन्हें मुश्किल लगती थी। पर कमला के एतराज को राहुल समझने के लिए क़तई तैयार नहीं थे।

> 1956 में भी इसी बात को लेकर हम दोनों में पहली बार मनमुटाव हो गया था। उस समय मैंने उनको पत्र में लिख दिया था कि 'तिब्बत जाने का मुझे कोई शौक़ नहीं है, इस बात से आप नाराज़ हो जाएँगे। मेरे न जाने पर भी आप अकेले ही जाना चाहते हैं। इससे तो अच्छा होता कि आप रूस ही चले जाते, जहाँ आपकी देखभाल करने के लिए आपका परिवार तो है।' (VI, पृ. 378)
>
> अप्रैल 1958 में ख़बर आयी कि राहुल की चीन की यात्रा अब पक्की है।
>
> समाचार पण्डितजी के लिए आह्लादकर था और 'एतद्वृत्तं कमलाये विषादकर' (कमला के लिए विषादकर) था। लिखते हैं— 'वह साश्चर्य सखेद मुझे देखती है। मेरी क्या स्थिति हो रही थी या मैं मरण की शरण में जा रहा हूँ, वह यह पूछती भी नहीं।' पूछती कैसे मैं? मेरे हृदय में क्या बीत रही होगी, वह इसे समझने की कोशिश ही नहीं करते थे। (VI, पृ. 419)
>
> राहुल अब भी ज़ोर दे रहे थे कि कमला साथ जाए। उनकी अभिलाषाओं और स्वास्थ्य को देख कर कमला मान भी गयीं, हालाँकि बच्चों का इंतजाम अभी तय नहीं था। अंत में कई वजहों से साथ जा न सकीं। अक्तूबर-नवम्बर, 1958 में महीने भर के लिए कमला और बच्चों को उनके पास जा कर उन्हें वापस लाना पड़ा। अगस्त में दिल के दौरे के बाद वे बेजिंग के अस्पताल में दाख़िल कर दिये गये थे।

कमला और राहुल की ज़िंदगी का तनाव और द्वंद्व उनके/हमारे ज़माने का लक्षण है, जब आदमी और औरत की स्वायत्तता, आत्म-निर्भरता और बराबरी की बात घर और परिवार की पवित्रता के नारे

के साथ सुनी जाने लगी है। परंतु घर में और बाहर भी, आदमी और औरत की स्वीकार्य अपेक्षाओं, उम्मीदों और अधिकारों में क़तई समानता नहीं है। नतीजा, बहुत सी औरतों को अपना अलग रास्ता ढूँढ़ना पड़ता है— कितनी ही बार अपने ही अंदर सिमटते हुए।

राहुल की आपबीती में 'आँसू' शब्द बहुत कम पाया जाता है। वहीं, उनके साथ की ज़िंदगी के विवरण में कमला बराबर आँसुओं का ज़िक्र करती हैं। 'नारी के लिए दुख के समय आँसू ही एकमात्र सहारा हैं।' औरत के आँसुओं को राहुल न समझते थे, न चाहते थे : नारी को शक्तिशाली, स्वावलम्बी बनना है, क्यों दूसरों के सामने दीन बने? कमला की राय में, 'स्त्री के आँसुओं का मूल्य यदि वे समझते तो अपनी प्रथम परिणीता की ज़िंदगी को आँसुओं के सागर में न डुबो देते।'[22] दोबारा, रूस से भी वे 'अपने परिवार को आँसुओं के समुद्र में डुबो कर चले आये।' कोई आश्चर्य नहीं कि 1959 में जब राहुल श्रीलंका जाने लगे, तो कमला का ख़याल था कि वे लौटेंगे नहीं। हालाँकि राहुल इस बात का आश्वासन देते रहे कि उन्हें कमला और बच्चों के लिए ही उनसे दूर जाना पड़ा है।

कमला के कथन में उनका दाम्पत्य जीवन सुख और दुख की एक गाथा बन जाती है। 1957 को वे 'अभिशप्त वर्ष' कहती हैं। 1958 'सुख-दुख, रोग-कष्ट और [राहुल के लिए] देश-विदेश की यात्राओं में ... बीता।' 1959 की घटनाएँ 'कुछ दुख़द और कुछ सुखद रहीं।' राहुल के जीवन के आख़िरी डेढ़ साल की विशिष्टताएँ, और उनके लिए शीर्षक और वेदनापूर्ण हैं। दिसम्बर, 1961 के हृदयाघात के बाद जब राहुल अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति खो देते हैं, इसकी अभिव्यक्ति है— 'दुख़द अध्याय का आरम्भ'। जुलाई-अगस्त, 1962, जब राहुल और कमला दिल्ली में मास्को इलाज के लिए जाने का इंतज़ार कर रहे हैं, इसकी अभिव्यक्ति है— 'दिल्ली के यातना-भरे दिन'।

दिसम्बर, 1961 से अगस्त, 1962 तक राहुल और कमला जगह-जगह (कलकत्ता, दार्जीलिंग, दिल्ली और मास्को) के अस्पतालों में भटकते रहे। फ़रवरी के अंत में कमला बच्चों को स्कूल के लिए रिश्तेदारों के पास दार्जीलिंग छोड़ आयीं। एक महीने बाद जब कलकत्ता अस्पताल के अधिकारियों ने राहुल के गुस्से और पागलपन के सामने हाथ जोड़ लिए, कमला उन्हें लेकर दार्जीलिंग गयीं— जहाँ वे अपने नये घर में (मसूरी के घर को बेचने के बाद लिया गया) और कुछ दिनों तक अस्पताल में रहे। मध्य जुलाई में राहुल और कमला फिर कलकत्ता पहुँचे, दिल्ली और वहाँ से आगे मास्को जाने के लिए।

इस पूरे दौर में शुरू और बीच के कुछ समय बच्चों का साथ छोड़ कर कमला अपने कमज़ोर, मजबूर और प्रायः गुस्सैल पति के साथ अकेली थीं। दोस्तों और रिश्तेदारों का दख़ल ज़्यादा था, 'साथ' बहुत कम। राहुल सिर्फ़ कमला को पहचान पाते, और अकेली कमला ही उनको सँभाल पातीं। वे बीमारी की चपेट में पागलों या बच्चों की तरह गुस्सा करते, लाल आँखों का प्रचण्ड रूप धारण करते, हिंसक होते, चिल्लाते, रोते, खाना माँगते, और जहाँ भी वे थे वहाँ से कहीं और चलने की ज़िद करते। मास्को में और उसके पहले दिल्ली में वे बराबर अपने 'दो बच्चों' को याद करते रहे। उनके पास जाने को कहते रहे।

इस समय राहुल की दशा किसी अनमोल राष्ट्रीय ख़ज़ाने की तरह हो गयी जिसे इधर-उधर के लोग हड़पना और इस्तेमाल करना चाहते थे। अलग-अलग क्षेत्रों के शुभचिंतक और रिश्तेदार डॉक्टरी और मनोरोग के विशेषज्ञ बन जाते हैं। सब दावा करते हैं कि उन्हें इनके मर्ज़ की दवा मालूम है। उनकी पहली पत्नी से जुड़े, उनके पैतृक ज़िले आज़मगढ़ के लोग। कम्युनिस्ट पार्टी के साथी जो उन्हें रूस और उनके रूसी परिवार के पास भेजना चाहते हैं। बीच में फँसी है एक 31 साल की महिला और उसके दो छोटे बच्चे, जो राहुल की वृद्धावस्था और अस्वस्थता में उनके सबसे नज़दीकी सहचर थे।

इस विचित्र खींचातानी में राहुल और भी बहकने लगे। मिलने वालों के प्रोत्साहन या याद दिलाने

---

[22] वही : 84. इस पैरे के अन्य उद्धरण राहुल की रचना *जीवन-यात्रा* से, खण्ड VI : 361 और 371.

की वजह से बीच-बीच में वे अपनी पहली और दूसरी पत्नी को भी पुकारते रहते। 'काश कि इस समय वे दोनों बूढ़ी बीवियाँ उनकी सेवा करने आ जातीं, पेशाब-पाख़ाना साफ़ करतीं, तो मुझे मुक्ति मिलती,' निराश-दुख़ी कमला अपनी डायरी में लिखती हैं। (VI, पृ. 638)

कारागृह से मुक्ति का रूपक अब आँसुओं के समुद्र के साथ जुड़ जाता है। अस्पतालों के छोटे-छोटे कमरों में कमला उनके पागलपन— गुर्राने, क्रोध, कमज़ोरी, मायूसी, बच्चों की तरह रोने— से जूझती रहीं। उन्हें अकेले छोड़ नहीं सकती थीं। दिल्ली के अतिथि-गृह में जब वे बेहोशी में गिर गये तो उनसे क़द में कम से कम एक फुट छोटी कमला उनके छह फुट क़द को अकेले उठाती हैं— क्योंकि उस वक़्त वहाँ और कोई मौजूद नहीं है।

मास्को में अस्पताल के लोग, डॉक्टर, नर्स, सब कमला को बहुत दयालु लगते हैं। उन शुभचिंतकों, दोस्तों, रिश्तेदारों से भी छुटकारा मिल जाता है जो दिल्ली में राहुल के दर्शन के लिए ताँता बाँधे रहते थे। किंतु कमला का अकेलापन कम नहीं होता, बढ़ता ही है। एक 'पागल' मरीज़ का 24 घंटे रोज़ इलाज। उसकी, और अपनी, बे-नींद रातों को झेलना। न पढ़ने की किताबें, न यहाँ की भाषा का ज्ञान।

> उनके पागलपन के मारे मेरा बुरा हाल है। क्या उनको उन्माद-रोग़ हो गया है? यहाँ की भाषा मैं बोल नहीं सकती, डॉक्टर को समझाऊँ तो कैसे? दुभाषिये भी रोज़ नहीं आते! दिन में थोड़ा भी पढ़-लिख नहीं सकती, रात को भी वे 11 बजे से पहले सोते नहीं, बैठे रोते रहते हैं ... मेरा जीवन तो निरर्थक हो गया है। (पृ. 658)

वहाँ के छह महीनों में कमला सिर्फ़ तीन दफ़े अस्पताल से बाहर निकलती हैं। बच्चे, जो अब सात और नौ साल के हैं, दिमाग़ से हटते ही नहीं— ख़ासकर अक्टूबर, 1962 के बाद जब हिंदुस्तान और चीन के बीच दार्जीलिंग के नज़दीक पर्वतीय क्षेत्र में युद्ध छिड़ जाता है। बच्चों की ख़बरें बहुत कम मिलती है। कभी-कभी कमला को यह भी नहीं मालूम होता कि वे कहाँ होंगे। सोचती हैं, कैसे निभा रहे होंगे। 'मन बहुत उदास रहता है। (बच्चों की) याद आते ही मुझे रोना आता है।' (पृ. 693 और यत्र-तत्र)

दिसम्बर, 1962 में रूसी डॉक्टर तय करते हैं कि अब कुछ नहीं हो सकता। राहुल को वापस हिंदुस्तान भेज देना चाहिए। पर भेजना आसान नहीं, जब तक उनकी स्थिति में थोड़ा सुधार न आये। यह अनिश्चितता कब तक रहेगी? 'उनकी हालत ऐसी है, बच्चे उधर कहाँ भटक रहे हैं। सोच-सोचकर मेरी दशा भी पागलों जैसी हो रही है।' (पृ. 686-7) (आख़िर, 13 मार्च, 1963 को राहुल और कमला मास्को छोड़ पाए।)

1 नवम्बर, 1962 : राहुल और कमला के मास्को पहुँचने के दो महीने बाद एक हमदर्द डॉक्टर ऐंतोनीना पेत्रोव्ना ने कमला का रक्तचाप नापते हुए उनसे कहा कि सोवियत संघ के राष्ट्रीय दिवस, सात नवम्बर, का मेला देखने मास्को शहर में जा कर वे बहुत ख़ुश होंगी। तब तक कमला एक बार भी अस्पताल के बाहर नहीं गयी थीं। कमला अभी रूसी कम ही समझती थीं। तब भी,

> जब डॉक्टर सवाल कर रही थीं, मुझे जाने क्या हो गया कि मैं फूट-फूट कर रो पड़ी। ... वे मेरे पास बैठ कर समझाती रहीं।...डॉक्टर ऐंतोनिना कह रही थीं— 'निनाद प्लाकित कमला, निनाद' (मत रोओ कमला, मत रोओ)। छोटे बच्चों की तरह वह मुझे दुलार रही थीं। मेरे प्रति उनका व्यवहार कितना आत्मीयतापूर्ण था, एक विदेशिनी के मन में मेरे प्रति इतनी सहानुभूति दिखी। अपने देश में तो मेरी इस कठिन घड़ी में कोई भी माई का लाल सामने नहीं आया जो मेरे दुख को समझता हो। (पृ. 668)

मृत्युशैया पर पड़ा हुआ अहंकारी और मिलनसार विद्वान जो अपनी बुद्धि और मानसिक शक्ति खो चुका है, एक तरफ़। दो खोये हुए, प्यारे-नन्हें बच्चों का ख़याल, दूसरी तरफ़। इनके बीच कमला की जो दशा होती है, वह बहुत दिन बनी रहती है। फ़रवरी, 1962 की डायरी से ही उनका हाल पता चलता है। चारों कलकत्ते में हैं। राहुल अस्पताल में। कमला और बच्चे राहुल के कुछ सहयोगियों के

घर में, जहाँ से वे दो बार रोज़ अस्पताल का चक्कर लगाते हैं। 15 फ़रवरी की टिप्पणी :

> उनका गुस्सा देखकर कमरे में जाने में भी डर लगता है। न जाऊँ तो भी वे खोजते हैं। जाने पर भी ख़ैरियत नहीं। ... बच्चे बेचारे अलग से परेशान हैं। अब ये दोनों भी घर जाने की बात करने लगे हैं। ... मन बड़ा उदास है। रो-रोकर दिन बीत रहे हैं। मेरे भाग्य में कभी भी ख़ुशी नहीं लिखी है। (पृ. 605)

पाँच दिन पहले कमला ने अपने जीवन की 'निरर्थकता' की बात की : 'एक दिन के लिए भी मुझे ख़ुशी नहीं मिली, परेशानियों से छुट्टी नहीं। आत्महत्या करूँ भी तो दो छोटे बच्चे हैं, उनका क्या होगा।' (पृ. 604)

दो पत्नियों की मुलाक़ात

मानव-जीवन के आख़िरी चरण में कई बातें निकलती हैं, जो उस समय तक छिपी रहती हैं : अंदरूनी, गहराई में डूबे हुए डर, अभिलाषाएँ, सपने; गुप्त रोग, गुप्त-ख़याल व कुरीतियाँ। यह हमने प्रेमचंद को ले कर शिवरानी के चिर-स्मरणों में देखा। इससे कुछ हट कर, राहुल की आख़िरी बीमारी के दौरान हमें कमला के विश्लेषण में उनकी तीनों पत्नियों के मानसिक अंतर्द्वंद्व, संघर्ष, शालीनता और दर्द का अंदाज़ मिलता है।

शिवरानी प्रेमचंद की पहली पत्नी से कभी नहीं मिल पाईं। इसके विपरीत, राहुल की पहली और दूसरी पत्नी दोनों से कमला का मिलना हुआ। इन मुलाक़ातों पर उनकी प्रतिक्रिया बीसवीं सदी की आदर्शवादी, मध्य-वर्गीय, हिंदुस्तानी औरतों के घर-परिवार और दाम्पत्य जीवन से जुड़े आदर्श और अभिलाषाओं को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है।

राहुल के रूसी परिवार से बात शुरू करते हैं। हमने देखा कि लोला-ईगोर से जब राहुल का पत्र-व्यवहार 1953 में एक अंतराल के बाद दोबारा शुरू हुआ, कमला कितनी क्षुब्ध हुईं। इसके बावजूद, कुछ साल बाद कमला ने ईगोर की एक नयी फोटो फ्रेम करके मसूरी वाले घर में टाँग दी। इसे देख कर राहुल बहुत नाराज़ हुए, सोचा कमला उन पर व्यंग्य कर रही हैं— जब कि कमला का ऐसा कोई ख़याल नहीं था। (VI, पृ. 342) खैर ...

1962 में मास्को पहुँचने पर कमला ने ईगोर और लोला को राहुल से आ कर मिलने के लिए चिट्ठी लिखी। इसके पीछे जो भी सोच रहा हो— मन में गूँजती अलग-अलग इलाज (और उनके अलग-अलग परिवारों) की बातें, जो कमला ने दिल्ली और कलकत्ता में सुनी थीं; कोई छोटी-सी आशा कि पहले पुत्र ईगोर से मिलने पर शायद राहुल की सेहत में सुधार आये या यही ख़याल कि राहुल के जीते-जी वे लोग एक बार फिर मिल लें; या सादी-सी जिज्ञासा कि उनके रूसी पत्नी और पुत्र कैसे होंगे?

मास्को पहुँचने के दो हफ़्ते बाद कमला ईगोर को खत भेजती हैं, हालाँकि पता सही है या नहीं, इसका पूरा यक़ीन नहीं है। दो हफ़्ते बाद, सितम्बर के अंत में, कोई जवाब न पाकर, दोबारा लिखती हैं। 11 अक्टूबर को जब राहुल पूछते हैं हम और हमारे बच्चे कहाँ हैं, तो कमला बताती हैं कि वे मास्को के अस्पताल में हैं, बच्चे दार्जिलिंग, स्कूल में। ईगोर और लोला के बारे में भी बताती हैं। कमला को चूमते हुए राहुल कहते हैं, 'वह लोग तो पहले के हैं, अब तू मेरी है, मेरे दो बच्चे हैं।' (पृ. 663)

नवम्बर तक ख़बर न पाकर, कमला सोचती हैं कि उनके (कमला के) रहते ईगोर शायद आना नहीं चाहता : पर इसमें कमला की क्या ग़लती है? 23 नवम्बर को ईगोर की चिट्ठी आती है। डॉक्टरों ने उन्हें मिलने की इजाज़त नहीं दी है। वे समझते हैं कि राहुल अभी बहुत कमज़ोर हैं। ईगोर कमला से कहते हैं— ख़बर भेजती रहिये, उम्मीद है राहुल अच्छे होंगे और हम मिल सकेंगे।

23 दिसम्बर को जब राहुल को वापस हिंदुस्तान भेज देने की बात पक्की है, कमला ईगोर को

फिर लिखती हैं कि आकर पिता से मिल ले। पत्र अंग्रेज़ी में है : 'वह तुम्हें याद करते हैं और मिलना चाहते हैं। एक बार मिलोगे नहीं? शायद यह बाप-बेटे की आख़िरी मुलाक़ात हो।' लोला-ईगोर को क्रिसमस की शुभकामनाएँ भेजती हैं, और कहती हैं कि रूस आये हुए एक भारतीय कम्युनिस्ट शायद उन लोगों को मिलने की इजाज़त दिलवा सकें। (पृ. 682)

आख़िरकार जनवरी, 1963 में इजाज़त मिल ही जाती है। 13 जनवरी को ईगोर और लोला मास्को पहुँच जाते हैं, पर ईगोर को अकेले ही मिलने दिया जाता है, वह भी थोड़े वक़्त के लिए। लोला को कितना अफ़सोस होगा, कमला सोचती हैं। शाम को फ़ोन पर बातचीत में लोला कमला से कहती हैं कि वह डॉक्टरों से इसरार करें। कमला के कहने पर डॉक्टर मान जाते हैं। 14, 15, 16 जनवरी, तीनों दिन, लोला और ईगोर अस्पताल आकर घंटों ठहरते हैं।

इन मुलाक़ातों और अपने ख़यालों का कमला विस्तृत ब्योरा देती हैं, जो कई वजहों से उल्लेखनीय है। मिलने पर कमला ईगोर और लोला के रंग-ढंग और बर्ताव से बहुत ख़ुश हुईं। 'ईगोर देखने में सुंदर हैं, रंग रूसी है पर चेहरा भारतीय। पिता से मिलता (हुआ)।' लोला 63 साल की, छह फुट की, कद में राहुल के बराबर। 'फ़ोटो में'— या राहुल की बातों में (?)— 'जितनी बूढ़ी लगती थीं, उतनी बूढ़ी नहीं। ... मैंने सोचा था ख़ूब घमण्डी होंगी, लेकिन वह मुझसे अच्छी तरह से सभ्यता से मिलीं।' उधर लोला को भी कम हैरत नहीं हुई, इस छोटी-सी हिंदुस्तानी/नेपाली औरत से मिल कर, जिसने इस मौक़े के लिए 'भारतीय पोशाक' पहनी थी। 'कमला तुम तो बहुत यंग (तरुणी) हो,' उन्होंने मिलते ही कहा। (पृ. 687-8)

13 जनवरी को, ईगोर के आने पर, कमला राहुल से कहती हैं कि उनका बेटा आया है। राहुल कुछ नहीं कहते। शायद ईगोर को पहचानते ही नहीं। बताई बात फ़ौरन भूल जाते हैं, रोते रहते हैं, बीच-बीच में 'मेरे दो बच्चे, मेरे दो बच्चे' कहते हैं। पिता का हाल देखकर ईगोर को क्या लग रहा होगा, कमला सोचती हैं।

ईगोर पिता को अपनी और माँ की फ़ोटो देता है, और कमला उसको राहुल, जया और जेता की एक-एक फ़ोटो। अगले दिन, जब ईगोर और लोला दोनों आते हैं, राहुल के बारे में हिंदुस्तानी पत्रिकाओं में छपे कुछ लेख और राहुल के जीवन-यात्रा के पहले दो भाग, उन्हें देती है। (दूसरे भाग में राहुल और लोला की पहली मुलाक़ात और 'एक दूसरे के हो (जाने)' का ज़िक्र है— पर लोला और ईगोर को इसे पढ़ने के लिए किसी हिंदी जानने वाले की मदद ज़रूरी होगी।)

पति, पत्नी और पुत्र का 15 साल बाद मिलना, कितना दुखद और वेदनापूर्ण था— कमला पूरी तरह से समझती हैं। एक तरफ़ राहुल बोल नहीं सकते, मुमकिन है जानते भी नहीं कि कौन आया है। बस हर दिन की तरह रोते रहते हैं। लोला भी रो रही थीं। कह रही थीं कि राहुल को लेनिनग्राद कितना पसंद था, और वे वहाँ लौटना चाहते थे। हालाँकि कमला इस आख़िरी ख़याल को ग़लत मानती थीं, पर उन्होंने कहा कुछ नहीं। ईगोर 'पापा, पापा' कहते हुए राहुल के ललाट को चूमता रहा। एक शालीन, सज्जन युवक जिसके पितृ-स्नेह को देखकर 'मेरे हृदय में करुणा उमड़ आयी।' (पृ. 689)

टूटी-फूटी अंग्रेज़ी और रूसी में कमला, लोला और ईगोर बाते करते हैं। राहुल को क्या बीमारी है, कब शुरू हुई, यह हाल कब से हुआ? लोला और ईगोर जया-जेता के बारे में पूछते हैं, उनके और कमला के लिए तोहफ़े लाते हैं। पूछते हैं कमला और राहुल कब और कैसे मिले। जब ईगोर 31 जनवरी और 5 फ़रवरी के बीच, हफ़्ते भर के लिए फिर आता है (इस बार लोला को लेनिनग्राद से छुट्टी नहीं मिली), वह पूछता है कि क्या कमला को लोला और ईगोर के बारे में मालूम था जब वह राहुल से मिलीं।

कमला सब बताती हैं। 'पण्डितजी ने मुझे नहीं बतलाया था। उनके पास आये सात महीने बीत जाने पर ही मुझे पण्डितजी के पूर्व परिवार के बारे में पता चला और वह भी दूसरे माध्यम से।' (पृ. 695)

दूसरी जगह लिखती हैं : 'लोला को देखकर मुझे घोर कष्ट हुआ। एक पत्नी और बच्चे के रहते भी राहुलजी ने मेरे साथ विवाह किया। किंतु इसमें मेरा कोई दोष नहीं था, यह संयोग की और उनके जीवन की अनिवार्यता के लिए घटी हुई घटना थी।' (पृ. 689)

कमला को लोला अत्यंत हमदर्द और दयालु महिला नज़र आयीं। वे फ़ौरन देख लेती हैं कि राहुल अपने आप कुछ नहीं कर सकते, पूरी तरह कमला पर निर्भर हैं। न लोला और न ईगोर ने किसी तरह से भी कमला की शिक़ायत या निंदा की। उलटे लोला ने ख़ूब सहानुभूति दिखाई। 'आख़िर वह भी एक नारी हैं, दूसरी नारी के मन ... को ... भली-भाँति समझती हैं।' (पृ. 688)

लोला के सौहार्द और सहानुभूति को देख कर कमला को एक दूसरी मुलाक़ात और दूसरे दर्द का ख़याल आता है, जब कुछ साल पहले मार्च, 1958 में वे राहुल की पहली पत्नी रामदुलारी देवी से मिली थीं। कमला ने कभी एक बार उनसे मिलने की ख़्वाहिश राहुल को बताई थी। तब भी मन में दो राय थीं— ख़ासकर 1956 के तनाव के बाद, जब राहुल ने उन्हें सारनाथ में पहली पत्नी के कुछ रिश्तेदारों से मिलाया था। अपनी तरफ़ से राहुल बहुत चाहते थे कि कमला और बच्चे उनके माता-पिता के गाँवों को देख लें, और कम से कम कुछ बुज़ुर्गों से मिल लें।

मार्च, 1958 के अंत में जब वे सब वहाँ पहुँचे, तो ख़बर बहुत जल्दी फैल गयी। राहुल के माँ और पिता के गाँव आस-पास ही थे, और दोनों में बड़ी भीड़ इकट्ठा हो गयी। पर पैतृक गाँव कनैला में, जहाँ रामदुलारी अब भी रहती थीं, उनका स्वागत वैसा नहीं हुआ जैसा एक दिन पहले माँ के गाँव में हुआ था। कमला और बच्चों को महिलाओं की मण्डली में ही बैठना पड़ा। यहाँ, 'प्रथम परिणीता हम से बोली ही नहीं। और महिलाएँ भी नहीं बोलीं।' (VI, पृ. 414)

किसी असभ्य आदमी ने रामदुलारी देवी से पूछा कि उनको अपने पति से कुछ कहना है, तो उन्होंने धीरे से कहा, 'अब मुझे कुछ नहीं कहना है।' बेझिझक, उस आदमी ने कहा, उनके बच्चों को आशीर्वाद तो दीजिए। तब रामदुलारी ने जया और जेता के सिर पर हाथ रख कर उन्हें एक-एक रुपये का सिक्का दिया।

'पण्डितजी ने यह सब देखा,' कमला बताती हैं। 'रात को डायरी में लिखा— 'कमला न तथा तुष्टा यथा पन्दाहाग्रामेअह्य' (कमला वहाँ उतना संतुष्ट नहीं थी जितना [एक दिन पहले] पन्दहा गाँव में।' (पृ. 414)

कमला की बाद की टिप्पणी शोक भरी है : 'मैं उनकी पहली पत्नी के प्रति श्रद्धा लेकर गयी थी। पर वह देवीजी मुझसे एक शब्द भी नहीं बोलीं। न मेरी तरफ़, न मेरे बच्चों की तरफ़ देखा। राहुलजी ने जब उनको छोड़ा था (1909 में), तब तो मेरी माँ का भी जन्म नहीं हुआ था। पर सौत का रूप कैसा होता है, देवीजी ने मुझे स्मरण दिला दिया, अपने रूखे व्यवहार से।' (पृ. 688)

कमला इन दो मुलाक़ातों के अलग भाव और अंजाम पर ज़ोर देती हैं। राहुल की आख़िरी बीमारी के दुखद माहौल में लोला से जनवरी, 1963 की मुलाक़ात स्नेह-युक्त और सराहनीय लगी। इसके विपरीत, रामदुलारी देवी का रूखापन कमला शायद आसानी से नहीं समझ सकती थीं। अपनी दम घोंटने वाली और मायूस परिस्थितियों में एक जवान औरत के प्रति (जो उनके पति की पत्नी और उनके दो बच्चों की माँ थीं) इस रूखे-सूखे व्यवहार के अलावा चारा ही क्या था— उस वृद्ध और पराश्रित औरत के लिए जिसे कहीं और रहने की जगह न थी और 'जिसका सारा जीवन' (राहुल के 1957 के शब्दों में) 'मेरी महत्त्वाकांक्षाओं का शिकार हुआ।'

आख़िरी दो शब्द

इस लेख के शुरुआत में मैंने बीसवीं सदी हिंदुस्तान में बिख़रते-सिमटते-बदलते वैवाहिक जीवन, और उससे जुड़ी वार्ता को लेकर कुछ सवाल उठाए। घर-परिवार के मायने क्या हैं? इनमें

आदमियों/औरतों की जगह क्या थी, क्या होनी चाहिए? अब इसी वार्ता और इससे जुड़ी घर-परिवार की बनावट के प्रति दो तरह के दृष्टिकोण को लेकर अपनी बात ख़त्म करता हूँ— एक तरफ़ आदमियों का दृष्टिकोण और तजुरबा, दूसरी तरफ़ औरतों का।

हमने देखा कि वे तीनों आदमी जो इस लेख के केंद्र बिंदु हैं— राजेंद्र प्रसाद, प्रेमचंद और राहुल सांकृत्यायन— पूरी तरह से तभी संतुष्ट नज़र आते हैं जब वे देश और समाज सेवा के काम में तल्लीन हैं। यह काम अधिकतर घर के बाहर ही होता है। 'घर'— अपनों का, आत्मीयता का, प्यार का वह विशेष स्थान, जिसे औरतें तन-मन-धन से बनाती और सँवारती हैं— इन आदमियों के लिए कुछ दूसरे क़िस्म की जगह प्रतीत होती है। वह जगह जहाँ आदमी जाता है बच्चों की पैदाइश और शुरुआती परवरिश के लिए, और मेहमान-नवाज़ी और कुल-प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए, और बीमारी, थकान, घबड़ाहट, मायूसी और पराजय से उबरने के लिए।

राहुल सांकृत्यायन ने अपने लेखनी और वक्तव्यों में ऐसे धर्म का प्रसार करना चाहा जिसमें सांसारिक लगाव से मुक्त, शेर-जैसा बेफ़िक्र और निडर, घुमक्कड़ी, शोध, प्रचार और समाज-सेवा करने वाला संन्यासी उत्तमोत्तम इंसान है। बीसवीं सदी के शुरू और मध्य के दशकों में प्रेमचंद, राजेंद्र प्रसाद और अन्य समाज-सेवी पुरुषों ने भी ऐसे धर्म को अपनाया। इस ज़माने के पहले और बाद और कइयों ने किया होगा। प्रेमचंद का अपने जीवन को 'बस काम, काम, काम' बतलाना, और राजेंद्र प्रसाद का गाँधी, राष्ट्र और समाज के लिए अपना सारा जीवन न्योछावर करना, इसके लिए घर से कितना भी दूर रहना पड़े, इसी धर्म की प्रधानता को दर्शाता है। अन्य पुरुष भी थे जो बौद्धिक-सामाजिक-राजनीतिक कार्य में इतने तत्पर और अग्रसर नहीं थे। इनमें भी बहुतों ने घुमक्कड़ी दर्शन के तत्त्वों से फ़ायदा उठाया : घर के बाहर का 'ज़रूरी' काम, घर छोड़ कर बीच-बीच में यहाँ-वहाँ (और कई बार बिन बताए) आने-जाने की आवश्यकता को दोहराते हुए।

अपनी आत्मकथा के पाँचवें भाग में राहुल लिखते हैं कि उनके और कमला के दृष्टिकोण (वह 'स्वभाव' कहते हैं) में मूलभूत अंतर ही नहीं, विरोध था। 'जहाँ बुद्धि के पीछे आँख मूँद कर जाने के लिए [हम] तैयार हैं, वहाँ कमला उसको धता बताती हैं। इस पर मुझे आश्चर्य होता है, उन्हें मुझ पर ...।' (V, पृ. 99) ऐसी ही बात उन्होंने लोला के बारे में भी कही थी। निष्कर्ष मेरे ख़याल में कुछ ऐसा निकलता है कि राहुल समझते हैं कि उन्हें अपनी रुझान को बहलाने की, सनक और उम्मीदें पूरा करने की पूरी छूट है। उनकी पत्नियों को इल्म है कि यह ग़ैर-मुमकिन ख़याली पुलाव और पलायन है।

राहुल जैसे महानुभावों का घुमक्कड़ी, समाज-सेवी धर्म बराबर टकराता है उस 'नून-तेल-लकड़ी' से, उस सांसारिक आसक्ति की ज़रूरत से जिसे औरतों को चाहे-अनचाहे ग्रहण करना पड़ता है। यानी घर, परिवार और समाज की देखभाल की ज़रूरत से— जिसमें गिनती करनी चाहिए सिर्फ़ बच्चों, बूढ़ों, मददगारों, मेहमानों और बीमारों की नहीं, पर घर के दर-द्वार, पेड़-पौधों, पालतू जानवरों और पक्षी, वातावरण, गुण, महक, अंदाज़ की भी। रोज़मर्रा की ज़िंदगी में जुटी हुई साधारण और असाधारण लड़कियों/औरतों को संसार में रह कर संसार त्याग देना मुश्किल है। हिंदुस्तानी समाज में, तब और अब भी, यह वरदान आम तौर पर (कुछ) आदमियों को ही मयस्सर था / है।

ज़ाहिर है कि इस क़िस्म के घरेलू और सामाजिक प्रबंध, और इस क़िस्म के तर्क (या युक्तियाँ), सिर्फ़ हिंदुस्तान में ही नहीं पाए जाते हैं। पर अलग-अलग देशों में इनका अपना अनोखा अंदाज़ है। उन्नीसवीं-बीसवीं सदी की राष्ट्रीय उमंग में हिंदुस्तानी घर-परिवार, देवी-माँ (तथा देवी-जैसी औरत) और भारतीय परम्परा ख़ास तौर से पूजनीय घोषित हुए। इनका प्रतीक इन्हीं देवियों को बनाया गया। इस ज़माने में, घरों की, निजी ज़िंदगी की, आत्मीय रिश्तों की, पवित्रता पर ज़ोर देना स्वाभाविक-सा होने लगा था। वंश को चलाते रहने की ज़रूरत, बच्चों की परवरिश और बड़े-बूढ़ों का ख़याल, इन पर ज़ोर पहले से ही रहा। पर उपनिवेशवाद-विरोधी माहौल में इनके साथ दो और बातों पर विशेष

ज़ोर दिया गया : हिंदुस्तानी औरत का उच्चतम (उच्चतोत्तम) स्थान; और हिंदुस्तानी आदमी की देश-सेवा की भावना। एक ही सिक्के के दो पहलू— राष्ट्रीय आंदोलन में इनकी अहम भूमिका रही।

अंतर्राष्ट्रीय समाज में हिंदुस्तान को बराबरी का दर्जा हासिल करना था। पर अपनी पहचान, अपनी असाधारण संस्कृति-संस्कार भी बनाए रखने थे। बल्कि इसके ज़रिये सारी दुनिया को एक नया रास्ता दिखाना था। इस संस्कृति, इस पहचान को बनाए रखने का भार हिंदुस्तानी औरत पर पड़ा। आदमियों की समाज-सेवा को उस गहराई, उस शक की नज़र से कभी नहीं परखा गया, जितना कि हर एक औरत के निजी व्यवहार और आचरण को : कहीं इस व्यवहार/आचरण से हमारे उच्च-स्तरीय संस्कृति/समाज/इज्ज़त पर धब्बा न लगे।

मुमकिन है कि इस नज़रिये के साथ-साथ बाल-विवाह की प्रथा— और इसकी ज़रूरत पर प्रवचन— पहले से भी ज़्यादा प्रचलित हुए। बाल-विवाह जो पहला क़दम था बच्ची, लड़की, स्त्री, विधवा को एक संकीर्ण दायरे में बाँधने का : ताकि लड़की/औरत की कमज़ोरी, नाज़ुकपन, भोलापन और भावुकता उसे ग़लत रास्ते पर ना ले जाए जिससे घर-समाज-जाति-राष्ट्र की आबरू पर आँच पड़े। यही वजह है कि समाज के रखवाले (पति-बाप-भाई-बेटा, सास-ससुर, सारे ससुराल वाले, सारा गाँव) बाल-वधू, बीवी, बहन, माँ और विधवा पर कड़ी नज़र रखते आये हैं।

यहाँ, बीसवीं सदी में गढ़े गये 'भारतीय नारी' के आदर्श पर एक बार फिर नज़र डालना उपयोगी होगा। इस नारी का दोमुखी रूप अनोखा और अप्रत्याशित है। एक अवतार में वह देवी, माँ, सती-सावित्री पत्नी है; उसी के साथ-साथ दूसरा अवतार एक स्वायत्त, आत्मनिर्भर, अभिलाषा-पूर्ण नागरिक का है। कोई ग़ज़ब नहीं कि यह नामुमकिन सी मूर्ति बन जाती है।

बीसवीं सदी के दौरान हिंदुस्तानी घर और समाज के ख़यालों, परिस्थितियों और (शायद सबसे ज़्यादा) बातों में कुछ तब्दीली आयी। पर बहुत कुछ वैसा का वैसा ही रहा। आदमियों और औरतों का शादी में, और लड़कियों/औरतों की विरासत में क्या हक़ होना चाहिए, इस एक बहस में ही इस बात का ख़ासा प्रमाण मिलता है। 1931 में प्रेमचंद ने 'नारी जाति के अधिकार' पर एक लेख लिखा। उसमें उन्होंने विवाह और पारिवारिक जीवन में सुधार लाने के लिए कुछ सुझाव दोहराए। 'एक विवाह' का नियम स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान रूप से क़ायम हो; पति की सम्पत्ति पर पत्नी का अधिकार, और पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र-पुत्रियों का बराबर अधिकार हो; तलाक़ क़ानून बने और इसमें भी स्त्री-पुरुष का समान हक़ हो; तलाक़ होने पर स्त्री को पुरुष की आधी सम्पत्ति मिले आदि।[23]

एक साल बाद, 1932 में, ऐसे ही मुद्दों को लेकर मैसूर (आज के कर्नाटक) की संसद (लेजिस्लेटिव काउंसिल) में अद्‌भुत विवाद हुआ। काउंसिल में विवाहित हिंदू औरतों की निर्वाह राशि और पैतृक सम्पत्ति में हिस्से की छोटी सी माँग एक विधेयक के रूप में पेश की गयी। इस पर जाने-पहचाने सांसद, बेलूर श्रीनिवास ऐयंगर, ने सख़्त ऐतराज़ किया :

> एक हिंदू [आदमी कहने की ज़रूरत ही नहीं थी!] को हक़ है ... कि वह जितनी चाहे शादियाँ कर ले। यह हक़ सदियों से चला आ रहा है, और अब मैसूर सरकार एक झटके में इसे ख़त्म कर देना चाहती है। यह कह कर कि जैसे ही तुम दूसरी शादी करोगे, पहली पत्नी तुम्हें छोड़कर निर्वाह राशि माँग सकती है। जब पति बीमारी से पीड़ित है, क्या पत्नी को उसकी देखभाल नहीं करनी चाहिए? चंद्रामती ने क्या किया? दमयंती ने क्या किया? वे सारे सुनहरे कर्म जो हमारी औरतों ने हमारे लिए किये, आप हमसे छीन रहे हैं।[24]

आज़ादी के पहले दशक में भारतीय संसद ने हिंदुओं में शादी-ब्याह, तलाक़, बच्चों का गोद लेना, और विरासत जैसे मसलों पर कई नये क़ानून बनाए। 1955 के हिंदू विवाह अधिनियम के तहत

---

[23] प्रेमचंद (1962 / 1980) : 249-250.

[24] देखें, जानकी नायर (1996) : 210. अंग्रेज़ी से अनुवाद मेरा.

दूसरी शादी अमान्य और दण्डनीय हो गयी; अंतरजातीय विवाह पर प्रतिबंध हटा दिये गये; 15 साल से छोटी लड़की और 18 साल से छोटे लड़के की शादी को क़ानूनी जुर्म क़रार दिया गया। (1978 में न्यूनतम उम्र तीन साल बढ़ा कर लड़कियों के लिए 18 और लड़कों के लिए 21 साल घोषित हुई।) 1956 के हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम ने निजी और पारिवारिक सम्पत्ति पर औरतों के अधिकार कुछ पुष्ट किये। इस तब्दीली में बीवियों, विधवाओं, पुत्रियों, और गोद ली हुई पुत्रियों के हक़ शामिल थे। (इसके बाजजूद, विरासत में हिंदू पुत्रियों का अधिकार उनकी मुसलमान बहनों से बहुत कम रहा— और याद रहे कि मुसलमान परिवारों में भी पुत्री को पुत्र के बनिस्बत आधा हिस्सा ही मिलता है।) औरतों की शारीरिक कुशल क्षेम के लिए निर्वाह राशि आदि में कुछ बढ़ोतरी हुई। इन सुधारों के साथ और महत्त्वपूर्ण क़दम भी उठाए गये : 1950 के संविधान में हिंदुस्तान के सारे वयस्क नागरिकों को— औरत हो या मर्द— पढ़ाई-लिखाई, नौकरी, वोट (मतदान) और राजनीतिक-सामाजिक कार्य में भाग लेने का समान अधिकार मिला।

नये क़ानून, और नये हक़ों की घोषणा से, घर, समाज और सत्ता में कुछ बदलाव तो आये हैं— नयी उम्मीदें, नयी कोशिशें, नये संघर्ष उभरे हैं। फिर भी, जैसे क़ानून के विद्वानों ने कहा है, 'क़ानून वही है जो क़ानून कहता है।'[25] हिंदू विवाह और पारिवारिक नियमों में जो सुधार आये, उदारवादी और दक्षिणपंथी तत्त्वों के बीच एक काम-चलाऊ समझौता था, ले दे कर न हिम्मत वाला न बहुत प्रगतिशील। इस आंशिक सुधार का भी समाज और सत्ता में हर तरफ़— घर-बिरादरी, गाँव-मुहल्ले में, पुलिस थाने और उच्च-न्यायालय में— विरोध और उल्लंघन होता रहा।

मिसाल के तौर पर भारतीय संविधान और क़ानूनों के संरक्षक, दिल्ली के एक न्यायाधीश का 1984 का यह फ़ैसला पढ़िए :

> क़ानून और संविधान को घर के अंदर लाना बहुत ग़लत है ... इससे हमारी विवाह-संस्था, हमारे पारिवारिक रीति-रिवाज़ सब तहस-नहस हो जाएँगे ... क़ानून और संविधान के नीरस उसूलों को दाम्पत्य जीवन में लाना पति-पत्नी के पवित्र बंधन पर प्रहार करना है, इससे असहमति और झगड़ा बढ़ता ही जाएगा।[26]

आज भी, तीस-पैंतीस साल बाद, जब कभी टीवी और अख़बारों में हिंदुस्तानी औरतों की ज़िंदगी और हक़ों पर विवाद होता है, तब परिवार और परम्परा की 'पवित्रता' का मंत्र दोहराते हुए, एक से एक रूढ़िवादी, दक्षिणपंथी विशेषज्ञ इसी क़िस्म के तर्क पेश करते नज़र आते हैं। कुछ बुज़ुर्ग महिलाएँ इसे अपने बेटों, अपने परिवार और समाज का हित मानकर, इन विशेषज्ञों का समर्थन करती हैं।

उन्नीसवीं-बीसवीं सदी से ले कर शायद आज तक हिंदुस्तानी आदमियों ने एक विशाल मिथक-सा खड़ा किया है। काल्पनिक ही सही, लेकिन एक अत्यंत शांतिप्रिय, सहनशील, उदार घर / समाज /माँ / परम्परा का स्वरूप, जिसकी पूजा निर्धारित है। इनमें कई प्रगतिशील विद्वान भी शरीक़ हैं। 'भारतीय नारी सदैव कुल देवी रही है ...,' प्रेमचंद ने 1931 में लिखा : 'भारत अपनी माताओं का सदैव भक्त रहा है।' समय के साथ, 'अन्यान्य कारणों से,' औरतों ने अपना स्थान खो दिया। पर अब, 'राष्ट्रीयता और सद्‌बुद्धि' की नयी लहर में, 'एक बार फिर हमारी माताएँ उसी ऊँचे पद पर आरूढ़ होंगी।'[27]

कहना ग़लत न होगा कि कमला सांकृत्यायन और लोला कोज़ेरोव्स्काया इस मीठे ख़याल को जल्दी नहीं अपना सकती थीं। और यह भी कि जब तक समाज में व्यापक परिवर्तन न आये और स्त्री-पुरुष के जीवन-यापन में कारगर बराबरी न हो, औरतें अपनी और अपने घर-समाज की घोषित पवित्रता और पूजनीयता को इतनी आसानी से नहीं मान सकेंगी।

---

[25] फ़्लैविया ऐग्नस (2012) : 39.

[26] नायर, वही : 227, अनुवाद मेरा.

[27] प्रेमचंद (1962) : 249.

शुक्रिया :
अभय दुबे को, जिन्होंने हिंदी में कुछ 'ओरिजिनल' लिखने का अनुरोध किया; अशोक वाजपेयी और अशोक माहेश्वरी को जिन्होंने लेख को पढ़ कर बढ़ावा दिया; ब्रजेश सामर्थ और शिखा गुप्त को, जिन्होंने मेरे लिखे को टाइप करने की कृपा की; बीवी रूबी, और माँ श्री कुमारी पांडे को— जिन्होंने, हमेशा की तरह, सवाल उठाए और साथ दिया.

संदर्भ

अमृत राय (1962 / 2013), *प्रेमचंद : कलम का सिपाही,* हंस प्रकाशन, इलाहाबाद.

इंद्रनाथ मदान (1946), *प्रेमचंद : एन इंटरप्रिटेशन,* मिनर्वा बुक शॉप, लाहौर.

इस्मत चुग़ताई (1998 / पेपरबैक पुनर्मुद्रण 2016), *काग़ज़ी है पैरहन,* हिंदी लिप्यंतरण : इफ़्तिख़ार अंजुम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

ईगोर राहुलोविच सांकृत्यायन (2001), 'मेरी यशोधरा माँ, येलेना सांकृत्यायन', हिंदी अनुवाद : जितेंद्र रघुवंशी, *अभिनव कदम* का विशेषांक, खण्ड 11, अंक 16-17, 2006-2007.

एम.के. गाँधी (1927 / पुनर्मुद्रण 1966), *एन ऑटोबायोग्राफ़ी, ऑर द स्टोरी ऑफ़ माई एक्सपेरीमेंट्स विद ट्रुथ,* गुजराती से (अनु.) महादेव देसाई, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद.

कमला सांकृत्यायन (1995), *महामानव महापण्डित,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.

जानकी नायर (1996), *वुमॅन ऐंड लॉ इन कोलोनियल इण्डिया,* काली फ़ॉर वुमॅन, नयी दिल्ली.

जेरल्डाइन फ़ोर्ब्स (1999), *वुमॅन इन इण्डिया,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

प्रेमचंद (1962 / 1980), 'नारी जाति का इतिहास', अमृत राय (सं.), *विविध प्रसंग,* खण्ड 3, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद.

फ़्लैविया एग्नेस (2012), 'फ़्रॉम शाह बानो टू कौसर बानो : कोंटेक्स्चुलाइज़िंग द 'मुस्लिम वुमॅन' विदिन अ कम्युनलाइज़्ड पॉलिटी', एनिया लूम्बा और रिटी लुकोज़ (सं.), *साउथ एशियन फ़ेमिनिज़्म्ज़,* ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डरहम.

बेबी काम्बले (2008), द *प्रिज़ंस वी ब्रोक,* मराठी की रचना *जिना आम्चा* से अनुवाद : माया पण्डित, ओरिएंट लोंगमेन, चेन्नई.

राजेंद्र प्रसाद (1947), *आत्मकथा,* साहित्य संसार, अजंता, नयी दिल्ली.

--------(1957), *ऑटोबायोग्राफ़ी,* एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई.

राहुल सांकृत्यायन (1940), *जीने के लिए,* किताब महल, इलाहाबाद, दूसरा संस्करण 1948 और पुनर्मुद्रण 2016.

----------- (1949 / 1956 (दूसरा संस्करण / 2014), *घुमक्कड़शास्त्र,* किताब महल, इलाहाबाद.

----------- (1957), *कनैला की कथा,* किताब महल एजेंसीज़, अजंता (2015).

----------- (1994), *राहुल वाङ्मय,* खण्ड 1, *जीवन यात्रा,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, I से VI तक.

शिवरानी देवी (1956 / 2012), *प्रेमचंद घर में,* आत्माराम ऐंड संस, नयी दिल्ली.